संवर्ग—1 : संस्कृत काव्यशास्त्र

इकाई—1

काव्य लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य के प्रकार

संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 काव्य लक्षण
1.3 काव्य हेतु
1.5 काव्य प्रयोजन
1.5 काव्य के प्रकार
1.6 काव्य के प्राचीन विभाजन
1.7 कविता के आधुनिक रूप
1.8 महत्त्वपूर्ण दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
1.9 लघूत्तरीय प्रश्न
1.10 अति लघुत्तरीय प्रश्न
1.11 सारांश

1.0 प्रस्तावना

जैसे प्रत्येक भाषा का अपना निश्चित व्याकरण होता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक साहित्य का भी अपना विशिष्ट व्याकरण होता है। साहित्य के इस व्याकरण के लिए 'साहित्यशास्त्र' पद का प्रयोग किया जाता है। 'साहित्यशास्त्र' के लिए एक समय में 'अलंकारशास्त्र' और 'काव्यशास्त्र' पद के प्रयोग की भी परंपरा रही है। उस समय 'अलंकार' और 'काव्य' शब्द का अर्थ अत्यंत व्यापक था। 'अलंकार' से साहित्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का बोध होता था, साथ ही **काव्य** गद्य, पद्य सहित सम्पूर्ण साहित्य का बोधक होता था। अब 'अलंकार' काव्य के सौन्दर्य का प्रकार भर है और 'काव्य' भी साहित्य का एक रूप मात्र है।

जैसे 'व्याकरण' भाषा के शुद्ध प्रयोग के लिए आवश्यक है, उसी तरह साहित्य के बारे में सम्यक् जानकारी के लिए 'काव्यशास्त्र' (साहित्यशास्त्र) आवश्यक है। भारतीय काव्यशास्त्र का मूल आधार संस्कृत भाषा है। 'संस्कृत काव्यशास्त्र' का प्रारंभ आचार्य भरत से माना जाता है, लेकिन राजशेखर प्रवर्तित कथा में यह उल्लेख है कि इसकी परंपरा भरतमुनि के पहले भी रही है। पर राजशेखर जनश्रुतियों का हवाला देते हैं, इसलिए 'संस्कृत काव्यशास्त्र' का वास्तविक आरंभ **भरतमुनि** के **नाट्यशास्त्र** से ही मानना तर्कसंगत है। भरतमुनि 'रस सिद्धान्त' के प्रवर्तक थे, उनके बहुप्रतिष्ठित सिद्धान्त की व्याख्या विभिन्न टीकाओं में हुयी, जिनमें मातृगुप्त, उद्भट, भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, हर्ष, कीर्तिधर और अभिनवगुप्त की टीकाओं ने ख़ासी प्रतिष्ठा अर्जित की। भरतमुनि के बाद विभिन्न मत प्रवर्तक आचार्यों और उनके सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। आचार्य भामह 'अलंकार सम्प्रदाय' के प्रवर्तक हैं, उनकी कृति का नाम है — 'काव्यालंकार'। आचार्य दण्डी प्रवर्तित 'रीति सिद्धान्त' का स्त्रोत है — 'काव्यादर्श'। 'ध्वनि सिद्धान्त' के प्रवर्तक आचार्य हैं आनंदवर्धन, उन्होंने अपने सिद्धान्त की व्याख्या — 'ध्वन्यालोक' में की। 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक हैं, उनके बाद आचार्य क्षेमेन्द्र प्रवर्तित 'औचित्य संप्रदाय' का स्थान है। क्षेमेन्द्र की पुस्तक 'औचित्य विचार चर्चा' में उनके विचारों की विस्तार से व्याख्या हुयी है।

आइए इन सम्प्रदायों के अध्ययन के पहले कुछ और जानकारी प्राप्त करें।

1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का अध्ययन करने से हम—

1. काव्य लक्षण का ज्ञान अर्जित कर सकेंगे,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. काव्य हेतु की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
3. काव्य के प्रयोजन को समझ सकेंगे,
4. काव्य के प्रकारों की जानकारी हासिल कर सकेंगे।

1.2 काव्य–लक्षण :– 'काव्यशास्त्र' की विवेचना के क्रम में सबसे पहले हमारी दृष्टि जाती है काव्य के लक्षणों पर। 'काव्य के लक्षण' को निर्धारित करने के प्रयास विभिन्न कालों में हुए। सबसे पहले यह समझने का प्रयास किया जाय कि 'काव्य–लक्षण' में 'लक्षण' पद का क्या अर्थ है ? 'लक्षण' शब्द की परिभाषा इस तरह निर्धारित की जा सकती है, 'लक्षण' लक्ष्यभूत पदार्थ की कोई ऐसी विशेषता है, जिसमें अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष न हो, साथ ही जो नामोल्लेख इत्यादि व्यवहार–साधक उपायों से अलग हो।' इन्हीं तथ्यों पर विचार करते हुए विभिन्न आचार्यों ने अपने–अपने काव्य लक्षण निर्धारित किए हैं।

1.3 काव्य–हेतु :– 'काव्य–हेतु' किसी कवि की वह शक्ति है, जिससे वह काव्य सृजन करता है। 'प्रतिभा', 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' को सभी आचार्यों ने किसी–न–किसी रूप में काव्य–हेतु माना है।

1.4 काव्य–प्रयोजन :– 'काव्य–प्रयोजन' का अर्थ है, काव्य–रचना से प्राप्त फल, उदाहरण के लिए – यश, धन, आनन्द आदि।

यहीं 'काव्य–हेतु' और 'काव्य–प्रयोजन' का अंतर समझ लेना चाहिए। जहाँ काव्य प्रयोजन का अर्थ काव्य से प्राप्त फल से जुड़ता है, वहीं काव्य हेतु वह शक्ति है, जिससे कवि काव्य की रचना कर पाता है।

1.5 काव्य के प्रकार :– 'काव्यशास्त्र' में 'साहित्य' को 'काव्य' का समानार्थी मानकर, उसके दो मुख्य विभाजन किए गए हैं :–
क) श्रव्य काव्य, और
ख) दृश्य काव्य।

नाटक से इतर सभी साहित्यिक विधाएँ श्रव्य हैं। दृश्य काव्य को देखकर एवं श्रव्य काव्य को सुनकर आनंद लिया जाता है। आधुनिक काल में 'श्रव्य' और 'दृश्य' साहित्य के विभाजन के आधार नहीं रह गए हैं। अब उसे अर्थ या अनुभूति के प्रकटीकरण में प्रयोगात्मक पद्धति के रूप में प्रयोग किया जाता है।

श्रव्य काव्य की मुख्य रूप से दो श्रेणियाँ हैं :–
1) गद्य, और
2) पद्य।

आधुनिक युग में 'काव्य' कहने से नाटक, कहानी या उपन्यास का बोध नहीं होता, काव्य या पद्य में छंद नपे–तुले और परिभाषित नियमों के अनुसार होते हैं। पद्य में वाक्य के विधान के समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सौन्दर्य और आस्वाद हेतु पर्याप्त लोच उपस्थित हो। यही कारण है कि वाक्यों में शब्दों का जो स्थान व्याकरण निर्धारित करता है, पद्य उसमें एक सीमा तक छूट लेता है। जबकि गद्य में यह प्रक्रिया संभव नहीं। 'कविता' कही जानी वाली कोई भी ऐसी रचना नहीं मिलती, जिसमें सौन्दर्य और आस्वाद के लिए वाक्यों का लोचदार प्रयोग न हुआ हो। आधुनिक काल में छंदहीन कविताओं का प्रचलन बढ़ गया है। छंदहीन कविता में भी लय के नपे–तुले मानदंडों में बदलाव लाकर लय को ही मुक्त किया जाता है। लय के प्रति इस विशेष व्यवहार को साहित्य का पाठक आसानी से पहचान लेता है, और रचना को 'कविता' संज्ञा देता है। लय–संवेदना कविता की आधारभूत विशेषता है। लय–संवेदना के लिए कविता उन नियमों और वस्तुजगत के अनेक विवरणों की उपेक्षा कर सकती है, जिसका अधिकार गद्य को नहीं। इस तरह 'लय' कविता की वंशगत विशेषता है।

1.6 काव्य के प्राचीन विभाजन :– प्राचीन समय से कविता या काव्य के मुख्यतः तीन भेद प्रचलित रहे हैं :– महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक काव्य। महाकाव्य और खण्डकाव्य में कथा–तत्त्व का होना अनिवार्य है। इसलिए इन्हें प्रबन्ध काव्य कहा जाता है। प्रबन्ध काव्य के दोनों रूपों में घटना और चरित्र की महत्ता है। इन्हीं के आधार पर भावों की योजना होती है। महाकाव्य में प्रधान चरित्र के जीवन को समग्रता में धारण करने के कारण विविधता और विस्तार होता है।

'खण्डकाव्य' में मुख्य चरित्र या प्रधान चरित्र के जीवन की किसी प्रमुख घटना का वर्णन होता है, इसलिए उसमें महाकाव्य की तरह विविधता और विस्तार नहीं होता। 'मुक्तक काव्य' में कथा–सूत्र का होना आवश्यक नहीं होता। वह किसी भाव के आधार पर रचा गया एक स्वतंत्र विधान होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.7 कविता के आधुनिक रुप :– कविता में निहित अनुभूति के आधार पर, आज कविता के मुख्यतः दो भेद प्रचलित हैं :– आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ। आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ कविता पर बहुधा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं –:

'साधारणतः काव्य के दो विभाग किए जा सकते हैं। एक तो वह जिसमें केवल कवि की बात होती है और दूसरी वह जिसमें किसी बड़े सम्प्रदाय या समाज की बात होती है।

कवि की बात का तात्पर्य उसकी उस सामर्थ्य से है, जिसमें उसके सुख–दुख, उसकी कल्पना और उसके जीवन की अभिज्ञता के अंदर से संसार के सारे मनुष्यों के चिरन्तन हृदयावेग और जीवन की मार्मिक बातें आप–ही–आप प्रतिध्वनित हो उठती हैं।

दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना के अन्तःस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदय को, अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है। इस दूसरी श्रेणी के ही कवि महाकवि कहे जाते हैं।

प्रगीत :– यह आधुनिक युग की एक नयी काव्य विधा है। गीत और प्रगीत में मुख्य अंतर यह है कि गीत में संगीतात्मकता अनिवार्य है, जबकि प्रगीत में गायन की अनिवार्यता नहीं होती। प्रगीत में छंद का होना ज़रूरी नहीं होता। इसमें लय का स्वाधीन उपयोग संभव है। हालाँकि छंद युक्त प्रगीत भी लिखे गये हैं। प्रगीत में वैयक्तिक भाव की तीव्रता होती है।

कविता में छंद के टूटने की घटना को आधुनिक युग में एक प्रमुख साहित्यिक घटना कहा गया है। निराला ने 'परिमल' की भूमिका में कविता की मुक्ति को छंद के टूटने की घटना से जोड़ते हुए कहा है, 'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कार्यों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना।' इस तरह 'मुक्त छंद' कविता के स्वाधीन स्वरूप का महत्वपूर्ण कारक सिद्ध हुआ।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1.8 महत्त्वपूर्ण दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1 : 'काव्य–लक्षण' क्या है ? विभिन्न संस्कृत–आचार्यों द्वारा प्रवर्तित काव्य–लक्षणों की विवेचना कीजिए।

अथवा

'काव्य–लक्षण' को परिभाषित करते हुए, संस्कृत–आचार्यों द्वारा बताये गये विभिन्न काव्य लक्षणों पर विचार कीजिए।

उत्तर– काव्य के लक्षणों पर काव्य शास्त्र के आरंभिक दौर से ही विभिन्न विमर्श होने लगे। यह विमर्श किसी–न–किसी रूप में अब भी ज़ारी है। काव्य लक्षण की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है, **'काव्य–लक्षण कविता की उन विशेषताओं या लक्षणों की तलाश है, जिनमें अतिव्याप्ति या अव्याप्ति दोष न हो, साथ ही जिनमें नामोल्लेख इत्यादि व्यवहार–साधाक–उपायों की उपस्थिति न हो।'**

संस्कृत आचार्यों के काव्य लक्षण :– आचार्य भरत मुनि (3 श. ई.) संस्कृत काव्य शास्त्र के सबसे पहले आचार्य हैं। इनकी कृति 'नाट्यशास्त्र' को पंचम् वेद की संज्ञा दी गयी, इससे भरत मुनि की प्रतिभा और प्रतिष्ठा का पता चलता है। इस बहुचर्चित कृति में नाट्य और काव्य में कोई भेद न मानकर नाट्य–कला की मार्मिक विवेचना की गयी है। आचार्य भरत ने स्पष्ट रूप से किसी काव्य–लक्षण का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने काव्य–बन्ध की शोभा बढ़ाने वाले छत्तीस लक्षणों का वर्णन अवश्य किया है, और काव्य–कला की प्रशस्ति इस तरह प्रकट की है :–

'मृदुललितं पदाढ्यं गूढं शब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृत रसमार्गं संधिसंधानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्।।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तात्पर्य यह है, 'नाटक को देखने वालों के लिए शुभकाव्य वह होता है जिसकी रचना कोमल और ललित पदों में की गई हो, जिसमें शब्द और अर्थ गूढ़ न हों, जिसको जनसाधारण सरलता से समझ सके, जो तर्कसंगत हो, जिसमें नृत्य संयोजन हो, जिसमें भिन्न–भिन्न प्रकार के रस स्वीकार किये गए हों और जिसमें संपूर्ण कथानक–संधियों का सफल निर्वाह हो।'

निःसंदेह उल्लिखित विवेचना व्यापक है, पर अनेक तत्त्वों के स्वीकार के कारण इसे काव्य–लक्षण कहना तर्कसंगत नहीं होगा। तात्त्विक विवेचना तभी संभव है जब स्पष्ट रूप से कोई काव्य–लक्षण स्वीकार किया जाय।

आचार्य भरतमुनि के बाद आचार्य भामह (छठी शताब्दी) का स्थान आता है। भामह ने 'काव्य–लक्षण' को परिभाषित करते हुए कहा :–

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।'

अर्थात्, **'शब्द और अर्थ का सहित भाव काव्य है।'** सहित भाव यानी साथ–साथ होना। इस परिभाषा में निहित सहित शब्द इतना महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ कि आगे चलकर यह सहित भाव ही साहित्य के रूप में काव्य के लिए स्वीकार कर लिया गया।

'सहित' से बना 'साहित्य' शब्द कालांतर में अत्यंत लोकप्रिय और स्वीकृत हुआ। विश्वनाथ महापात्र नाम के एक संस्कृत आचार्य ने 'साहित्य दर्पण' नामक ग्रंथ लिखकर इस शब्द की व्यापक लोकप्रियता और प्रतिष्ठा पर मुहर लगा दी। वस्तुतः आज जो हम 'साहित्य' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, वह सदियों से इसी अर्थ में भारतीय समाज में स्वीकृत और प्रचलित है।

प्रश्न यह उठता है कि 'साहित्य' शब्द में आख़िर ऐसी कौन–सी विशेषता है, जिसके कारण शब्द और अर्थ **'साहित्य'** पद प्राप्त करते हैं। देखा जाय, तो शब्द और अर्थ तो हर जगह साथ–साथ रहते हैं, फिर 'साहित्य' पद में शब्द और अर्थ ऐसी कौन–सी विशेषता प्राप्त कर लेते हैं ? संस्कृत आचार्य कुंतक ने इस संदर्भ में अत्यंत उल्लेखनीय बात कही है। उनका कहना है जब शब्द और अर्थ के बीच सुंदरता के लिए स्पर्धा या होड़ लगती है तो साहित्य की सृष्टि होती है। सुंदरता की इस दौड़ में शब्द अर्थ से आगे निकलने की कोशिश करता है और अर्थ शब्द से आगे निकल जाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। फिर यह निर्णय कठिन हो जाता है कि कौन अधिक सुंदर है। शब्द और अर्थ की यह स्पर्धा ही सहित भाव है जो निःसंदेह साहित्य का विशेष धर्म है।

भामह की परंपरा में ऐसे आचार्यों की सूची लंबी है, जो शब्द और अर्थ के संबंध पर साहित्य पद को स्वीकार करते हैं। आचार्य रुद्रट ने – 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' कहकर शब्द और अर्थ की, काव्य के अनुकूल विभिन्न व्याख्याएँ की है तथा शब्द और अर्थ के उपादान पर बल दिया है। ध्वन्याचार्य आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त भी शब्दार्थ को ही काव्य मानते हैं, पर वे शब्दार्थ को काव्य का शरीर और ध्वनि को उसकी आत्मा स्वीकार करते हैं।

आचार्य मम्मट ने अपने ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' में **ऐसे शब्दार्थ को काव्य माना है जो दोषरहित हो –**

'तददोषौशब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'

यदि इस लक्षण की व्याख्या करें तो हम पाते हैं कि आचार्य मम्मट गुण को तो काव्य का नित्य धर्म मानते हैं और अलंकार को अनित्य। गुण काव्य–शोभा का संपादन करते हैं और अलंकार इसे बढ़ाते हैं। इस प्रकार मम्मट काव्य में गुणों का होना अनिवार्य मानते हैं और अलंकारों को वैकल्पिक। संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्यों में अधिकांश ने मम्मट के काव्य लक्षण को किसी–न–किसी रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य दण्डी इस परंपरा से अलग अपना काव्य–लक्षण प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार,

'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।'

अर्थात् **काव्य का शरीर तो इष्टार्थ से युक्त पदावली होता है।** डॉ. नगेन्द्र ने भामह के काव्य–लक्षण से दण्डी के काव्य–लक्षण की समता का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार, 'इष्टार्थ को अभिव्यक्त करने वाला शब्द और शब्द–अर्थ का साहित्य या सामंजस्य एक ही बात है, क्योंकि शब्द इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति तभी कर सकता है, जब शब्द और अर्थ में पूर्ण सामंजस्य या सहभाव हो।'

रसवादी आचार्य विश्वनाथ, आचार्य मम्मट के काव्य–लक्षण से अपनी असहमति प्रकट करते हैं, वे इस तरह काव्य–लक्षण की चर्चा करते हैं :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।'

यानी **रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं।** इस काव्य–लक्षण में 'रस' शब्द का प्रयोग अत्यंत व्यापक अर्थ में किया गया है। इस शब्द की व्यापकता में रस, रसाभाव, भाव, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता और भावशांति आदि सभी समाहित हैं। लेकिन 'रस' शब्द जहाँ इस काव्य–लक्षण की महत्त्वपूर्ण विशेषता का आख्यान करता है, वहीं इस शब्द से एक सीमा भी बन जाती है, वह यह कि यह लक्षण रस तथा रसावयवों की परिधि से बाहर नहीं जाता। अलंकारवादी आचार्यों (भामह, दण्डी, रूद्रट आदि) की दृष्टि में रस ही काव्य का फल है। इन आचार्यों ने एकमात्र रस को ही स्वीकार करके काव्य के **सभी तत्त्वों** को यथार्थ नहीं माना। फिर भी आचार्य विश्वनाथ का यह काव्य–लक्षण अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

'काव्य–लक्षण' का प्रवर्तन करने वालों में पंडितराज जगन्नाथ का नाम भी अत्यंत उल्लेखनीय है। उनका काव्य–लक्षण है :–

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।'

अर्थात **रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं।** आचार्य पंडितराज जगन्नाथ 'रमणीयार्थ' शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं, 'रमणीय अर्थ वह है, जिसके ज्ञान से लोकोत्तर अर्थात् अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो।' इस लक्षण में काव्य को शब्दनिष्ठ स्वीकार किया गया है। साथ ही लोक–व्यवहार के साक्ष्य पर यह सिद्ध किया गया है कि काव्यत्व केवल शब्द में अवस्थित होता है। काव्य का प्रतिपाद्य अर्थ तथा उसकी रमणीयता शब्द के माध्यम से ही प्रतिपादित होता है। इस प्रकार काव्य में शब्द ही मुख्य है, अर्थ तो उसकी विशेषता है। यह काव्य–लक्षण संस्कृत काव्यशास्त्र में अपना अत्यन्त अहम् स्थान रखता है, इसके विस्तार में ध्वन्याचार्य आनंदवर्धन का 'लोकोत्तर आह्लाद', वामन का 'सौन्दर्य', दण्डी का 'इष्टार्थ' और कुन्तक का 'वक्रताजन्य आह्लाद' आदि सभी तत्त्व समाहित हो जाते है। यह अकारण नहीं है कि इस काव्य–लक्षण को सर्वाधिक स्वीकृति प्राप्त है।

प्रश्न 2 : काव्य–हेतु क्या है ? विभिन्न काव्य–हेतुओं का विश्लेषण कीजिए।

अथवा

काव्य–हेतु को परिभाषित करते हुए, विभिन्न काव्य–हेतुओं की विवेचना कीजिए।

उत्तर : 'काव्य–हेतु' किसी कवि की वह शक्ति है, जिससे वह काव्य–रचना में समर्थ होता है। अन्य शब्दों में 'काव्य–हेतु', काव्य रचना के कारण होते हैं। इन्हें 'काव्य के कारण' कहने की भी परंपरा रही है। आचार्य वामन ने 'काव्य–हेतु' के स्थान पर 'काव्यांग' शब्द का प्रयोग किया है।

भामह ने 'काव्यालंकार' में काव्य हेतु के रूप में केवल प्रतिभा का उल्लेख किया है। उनके अनुसार,

'गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जड़धियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ।।'

अर्थात् गुरूपदेश से जड़बुद्धि भी शास्त्राध्ययन कर सकता है, लेकिन काव्य तो कोई प्रतिभावान ही बना सकता है। दण्डी अपने ग्रंथ 'काव्यादर्श' में 'प्रतिभा', 'शास्त्रज्ञान' (व्युत्पत्ति) तथा 'अभ्यास' तीनों को काव्य का कारण कहा है, 'नैसर्गिक प्रतिभा, विस्तृत निर्दोष शास्त्राध्ययन तथा अमन्द अभ्यास काव्यसंपत्ति के कारण होते हैं।' इसके बाद रुद्रट ने भी शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को काव्यहेतु मानते हुए कहा है, 'काव्य में असार वस्तु को दूर करने, सार ग्रहण करने तथा चारुता लाने के कारण, शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास, ये तीनों स्थान पाते हैं। वामन ने 'काव्यालंकारसूत्र' में कहा है, 'लोक, विद्या और प्रकीर्ण काव्यांग होते हैं'। लोक से आचार्य का तात्पर्य है–लोकव्यवहार, विद्या के अंतर्गत उन्होंने शब्दशास्त्र, अभिधान, कोश, छन्दशास्त्र, कला, कामशास्त्र तथा दण्डनीति को लिया है। इस प्रकार विद्या से आचार्य का अर्थ 'व्युत्पत्ति' से है।

मम्मट ने अपने ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' में शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति और अभ्यास के समन्वय को काव्यहेतु माना है, 'शक्ति (प्रतिभा), लोक व्यवहार, शास्त्र एवं काव्य आदि के परिशीलन से प्राप्त निपुणता (व्युत्पत्ति) तथा काव्यज्ञ की शिक्षा से अभ्यास – ये उसके (काव्य के) उद्भव में हेतु बनते हैं।' उन्होंने आगे इस कारिका की व्याख्या करते हुए कहा है कि शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास से अलग काव्यहेतु नहीं है, अपितु तीनों मिलकर काव्य के हेतु बनते हैं। हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथ 'काव्यानुशासन' में काव्य–हेतु

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की चर्चा की है, 'प्रतिभा इस (काव्य) का हेतु है। व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा का संस्कार करने वाले हैं।' जयदेव (चन्द्रालोक), कविराज जगन्नाथ आदि आचार्य भी इन्हीं काव्य हेतुओं की चर्चा करते हैं।

इस तरह विभिन्न काव्य हेतु हैं :– **प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास।** राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में एक अन्य काव्य–हेतु का उल्लेख किया है – **समाधि।** इन काव्यहेतुओं के स्वरूप की विस्तार से चर्चा इस प्रकार संभव है :–

1) प्रतिभा – क्षेमेन्द्र रचित 'औचित्यविचारचर्चा' में उद्धृत भट्टतौत प्रवर्तित 'प्रतिभा' की व्याख्या इस प्रकार है,

'प्रज्ञा नवनान्मेषशालिनी प्रतिभा मता।'

अर्थात् **'नये–नये भावों के उन्मेष से युक्त प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं।'** वामन 'काव्यालंकार सूत्र' में इसे जन्मान्तर से प्राप्त कोई संस्कार कहते हैं, जिसके बिना काव्य–रचना नहीं हो सकती या होती भी है तो हास्य का कारण बन जाती है। रुद्रट ने 'प्रतिभा' के लिए 'शक्ति' पद का प्रयोग किया है, और उसकी व्याख्या की है, 'मन की एकाग्रावस्था में, जिसमें अभिधेय का अनेक रूपों में विस्फुरण होता है और जिसमें अक्लिष्ट पद सूझ पड़ते हैं, उसे 'शक्ति' कहते हैं।' राजशेखर ने कहा, 'जो (बुद्धि) सार्थक शब्दसमूह को, अलंकारतन्त्र को कहने के ढंग को तथा ऐसी ही अन्य बातों को हृदय में प्रतिभासित करती है, उसे 'प्रतिभा' कहते हैं।' मम्मट ने भी प्रतिभा के लिए 'शक्ति' शब्द का ही प्रयोग किया है, 'शक्ति कवित्व का बीजरूप कोई संस्कार विशेष है, जिसके बिना काव्य प्रसूत नहीं होता और यदि हो भी तो उपहासमय होता है।'

इस प्रकार प्रायः सभी आचार्यों ने प्रतिभा को सहज तथा काव्य का प्रधान हेतु माना है। हालाँकि वामन ने प्रतिभा को 'प्रकीर्ण' के अंतर्गत रखा है, लेकिन इसे कवित्व का बीज मानकर इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। रुद्रट इसके अपवाद हैं, उनका मानना है कि प्रतिभा उत्पाद्य है, लेकिन व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा इसके अभाव को भरा जा सकता है।

प्रतिभा के भेद :– रुद्रट ने प्रतिभा के दो भेद किये हैं :– **सहजा प्रतिभा अर्थात् स्वाभाविक प्रतिभा और उत्पाद्या प्रतिभा** अर्थात् जो किन्हीं साधनों द्वारा अर्जित की जाय, जैसे शास्त्राध्ययन और अभ्यास द्वारा।

राजेशखर ने भी दो तरह की प्रतिभाओं का उल्लेख किया है :– **कारयित्री और भावयित्री।**

कवि का उपकार करने वाली प्रतिभा 'कारयित्री' कहलाती है। कारयित्री प्रतिभा के भी तीन भेदों की चर्चा की गयी :–
सहजा – जो जन्म–जन्मान्तर के संस्कारों की अपेक्षा रखती है।
आहार्या – जो वर्तमान जन्म के संस्कारों से पैदा होती है, और
औपदेशिकी – जो मन्त्र–तन्त्र, उपदेश आदि से उत्पन्न होती है।

भावक अर्थात् काव्य के अधिकारी पातक का उपकार करने वाली प्रतिभा **'भावयित्री'** कहलाती है। इस प्रतिभा के द्वारा कवि के श्रम तथा अभिप्राय का बोध होता है।

2) व्युत्पत्ति –: राजशेखर ने व्युत्पत्ति के संबंध में प्राचीन आचार्यों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि व्युत्पत्ति का अर्थ 'बहुज्ञता' है। यह अर्थ प्रायः सभी काव्य आचार्यों को मान्य है। वे इसके बारे में यह भी कहते हैं कि, **'उचित–अनुचित का विवेक व्युत्पत्ति'** है। आचार्यों का यह मानना है 'व्युत्पत्ति' प्रतिभा का संस्कारक है। राजशेखर इस सिद्धान्त का खंडन करते हुए आचार्य मंगल को उद्धृत करते हैं – 'व्युत्पत्ति' प्रतिभा से श्रेष्ठ है। आगे इस कथन के आलोक में उन्होंने अपना मत दिया है, 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों समवेत रूप से 'श्रेयस्कर' हैं।' आचार्य वामन ने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में प्रकीर्ण के अंतर्गत् व्युत्पत्ति की परिभाषा दी है।

3) अभ्यास –: निरंतर प्रयास करते रहने को 'अभ्यास' कहा गया है। सभी आचार्यों की यह मान्यता है कि 'अभ्यास' प्रतिभा का पोषक है। दण्डी अपने ग्रंथ 'काव्यादर्श' में 'प्रतिभा' को सर्वोपरि मानते हैं, 'पूर्व–वासना–जन्य अद्भुत प्रतिभा के न रहने पर भी शास्त्राध्ययन और अभ्यास से वाणी की उपासना करने पर वह अनुग्रह करती है।

4) समाधि –: राजशेखर के अनुसार, 'समाधि' मन की एकाग्रता है। उन्होंने एक अन्य आचार्य श्यामदेव को उद्धृत करते हुए कहा है, 'काव्य कर्म में कवि की 'समाधि' सर्वोत्कृष्ट है। वामन ने 'समाधि' को 'अवधान' शब्द से संबोधित किया है।

इस प्रकार 'काव्य रचना' में 'प्रतिभा', 'व्युत्पत्ति', 'अभ्यास' और 'समाधि' जैसे काव्य–हेतुओं की महती भूमिका है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रश्न 3 : काव्य–प्रयोजन क्या है ? काव्य प्रयोजन और काव्य हेतु में क्या अंतर है ? विभिन्न काव्य प्रयोजनों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

काव्य–प्रयोजन को परिभाषित करते हुए, विभिन्न काव्य–प्रयोजनों का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर : संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने किसी विषय के अध्ययन के लिए चार क्रमों का निर्धारण किया प्रयोजन, अधिकारी, सम्बन्ध और विषयवस्तु। इस समुच्चय को ही 'अनुबन्धचतुष्टय' कहते हैं। इस **'अनुबन्धचतुष्टय'** का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्रम है – प्रयोजन।

'काव्य–प्रयोजन' का अर्थ है, काव्य–रचना से प्राप्त फल। उदाहरण के लिए – यश, धन, आनन्द आदि। काव्य–प्रयोजन की चर्चा करते समय काव्य–हेतु से इसके अंतर की चर्चा की जाती है। जहाँ काव्य प्रयोजन का अर्थ होता है – काव्य रचना से प्राप्त फल, इसके विपरीत काव्य–हेतुओं से तात्पर्य है – काव्य रचना के कारण, जैसे – प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास, समाधि। कोई रचना कालजयी बनती है, काव्य प्रयोजन के कारण ही –

'सार्वरयैव हि शारत्ररय कर्गणो वापि करयचित् ।
यावत् प्रयोजने नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते ।।'

इसी उक्ति को ध्यान में रखते हुए भारतीय संस्कृत आचार्यों ने प्रयोजन की उपादेयता का उल्लेख किया है। सबसे पहले भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाटक के आधार पर काव्य–प्रयोजनों की चर्चा की। इनके द्वारा प्रस्तुत नाट्य–प्रयोजन ही प्रकारान्तर से काव्य–प्रयोजन है :–

'धर्मयशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनमं ।'

यह काव्य प्रयोजन विशुद्ध रूप से भौतिकवादी ज़मीन पर स्थित है। धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि आदि उपदेश – इन सभी को समेकित रूप से काव्य–प्रयोजन माना गया है। हालाँकि इस श्लोक में कहीं आनंद का उल्लेख नहीं है, लेकिन इससे असहमति प्रकट नहीं की जा सकती कि इन सबके पीछे आनंद की भावना सक्रिय है। भामह ने काव्य – प्रयोजन का परिष्कार करते हुए कहा –

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्य निबन्धनम् ।।'

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्ति, कलाओं में कुशलता, कीर्ति–प्रीति का अर्जन काव्य से ही सम्भव है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (चतुर्वर्ग) का उल्लेख करके भामह ने लोक तथा परलोक, दोनों में काव्य–प्रयोजन की महत्ता को स्वीकार किया है।

दण्डी ने काव्य–प्रयोजन न कहकर वाणी–प्रयोजन के संदर्भ में अपने अभिमत को प्रकट किया है, जिसे काव्य–प्रयोजन में समाहित किया जा सकता है।

उनके अनुसार शब्दरुप ज्योति से अन्धकार दूर होता है। इस परिभाषा में अन्धकार निराशा का और ज्योति आशा का प्रतीक है। आचार्य वामन ने काव्य–प्रयोजनों पर दो दृष्टियों से विचार किया है – एक तो आनन्द साधना, जिसे प्रत्यक्ष प्रयोजन कहा गया, और कीर्ति जिसे अप्रत्यक्ष प्रयोजन कहा गया। इस तरह कीर्ति बाह्य है, जबकि प्रीति आन्तरिक। रुद्रट का यह मानना है कि काव्य–रचना द्वारा महापुरुषों के यश को स्थायित्व प्राप्त होता है, उससे कवि को आनुषंगिक फल– धन आदि की उपलब्धि भी होती है। कुन्तक के मत से तीन प्रयोजन हैं :– 1) चतुवर्ग–फल–प्राप्ति 2) व्यवहार ज्ञान और 3) लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति।

मम्मट ने अपने ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' में काव्य–प्रयोजनों का सर्वाधिक श्रेष्ठ वर्णन किया है, उनके अनुसार –

'काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।'

अर्थात् काव्य से यश की प्राप्ति होती है, अर्थ की प्राप्ति होती है, व्यवहार ज्ञान होता है, अमंगल का क्षय होता है, तत्काल लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है और कान्ता के सदृश मधुर प्रिय उपदेश भी मिलता है। इस तरह मम्मट के बताए काव्य प्रयोजनों की संख्या छः है :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1) यश की प्राप्ति
2) धन की प्राप्ति
3) व्यावहारिक ज्ञान की उपलब्धि
4) अनिष्ट का नाश
5) अलौकिक आनन्द की तुरन्त प्राप्ति, और
6) कान्ता के समान मधुर उपदेश।

प्रश्न 4 'काव्य' के प्रकार पर विचार कीजिए।

अथवा

'काव्य' के विभिन्न प्रकारों पर अभिमत प्रकट कीजिए।

अथवा

विभिन्न काव्य रुपों के स्वरूप पर विचार कीजिए।

उत्तर : भारतीय काव्य–परंपरा और शास्त्र दोनों के अवगाहन से पता चलता है कि काव्य के प्रधानतः दो रूप प्रचलित रहे हैं – **प्रबन्ध काव्य तथा मुक्तक काव्य।** प्रबंध काव्य के भी दो भेदों की चर्चा मिलती है – **महाकाव्य और खण्डकाव्य।** उसी तरह मुक्तक के भी विभिन्न रूपों का वर्णन मिलता है। इस तरह विभिन्न काव्य–रुपों की परंपराएँ मिलती हैं, जिनका विस्तार से अध्ययन इस प्रकार संभव है :–

प्रबंध काव्य :– शास्त्रों में प्रबंध के लक्षण का उल्लेख करते हुए, यह स्थापना की गयी है कि वह अविच्छिन्न या सुसंगत वर्णन को अपने भीतर समाहित किये हुए होता है। धारा के प्रवाह के लिए कथा का होना आवश्यक है, अतः प्रबंध काव्य में कथा का होना ज़रूरी माना गया है।

काव्यशास्त्रीय परंपरा के अनुसार प्रबंध काव्य के दो भेद हैं। विशेषताओं सहित उनके मध्य उपस्थित अंतर को इस प्रकार समझा जा सकता है :–

महाकाव्य :– प्राचीनतम भारतीय आलंकारिक भामह ने 'काव्यालंकार' में सबसे पहले 'महाकाव्य' को परिभाषित किया। उनका मानना है, लम्बे कथानक वाला, महान चरित्रों पर आश्रित, नाटकीय पंचसंधियों से युक्त, उत्कृष्ट और अलंकृत शैली में लिखित तथा जीवन के विविध रूपों और कार्यों का वर्णन करने वाला सर्गबद्ध सुखान्त काव्य ही 'महाकाव्य' होता है। भामह के बाद दण्डी, हेमचन्द्र, विश्वनाथ कविराज, रुद्रट आदि जैसे अनेक आचार्यों ने 'महाकाव्य' के स्वरूप पर विचार किया। इन सभी आचार्यों की स्थापनाओं पर सम्यक् रूप से विचार करने पर महाकाव्य की निम्नांकित विशेषताएँ प्रकट होती हैं –

'महाकाव्य' सर्गों में विभक्त होता है। सर्गों की संख्या आठ से अधिक होती है। वे न बहुत बड़े होते हैं न बहुत छोटे। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होता है। लेकिन सर्ग का अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए। देवता अथवा उच्च कुल का क्षत्रिय इसका नायक होता है। श्रृंगार, वीर तथा शांत रस में से कोई एक रस अंगी होता है। अन्य रसों का स्थान गौण होता है। नाटक की समस्त संधियों का उसमें निर्वाह होता है। कथा ऐतिहासिक अथवा लोक प्रसिद्ध होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से कोई एक उसका फल होता है। महाकाव्य में खलों एवं सज्जनों के गुणों का वर्णन भी होता है। इस विधा में संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, दिन, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, विवाह, यात्रा आदि का सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। महाकाव्य में रस–सृष्टि के साथ–साथ विश्व–सृष्टि का होना अनिवार्य है।

हिन्दी में जिन महाकाव्यों की बहुधा चर्चा होती है, वे हैं – पृथ्वीराज रासो (चंदबरदायी), पद्‌मावत (मलिक मुहम्मद जायसी), रामचरित मानस (तुलसीदास), साकेत (मैथिलीशरण गुप्त), कानायनी (जयशंकर प्रसाद)।

खण्डकाव्य और एकार्थकाव्य – खण्डकाव्य भी प्रबन्धकाव्य का एक रूप है। खण्डकाव्य के विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र का मत है – 'वह एक देशानुसारी होता है। देश का तात्पर्य है – भाग या अंश। महाकाव्य से खंडकाव्य और एकार्थकाव्य की भिन्नता को 'हिन्दी साहित्यकोश', भाग–1 ने इस प्रकार लक्षित किया है,

'सामान्यतया 8 या 8 से अधिक सर्गों वाले प्रबन्ध काव्यों को महाकाव्य और 8 से कम सर्गों वाले काव्यों को खण्डकाव्य माना जाता है, परन्तु यह वैज्ञानिक विभाजन नहीं है। महाकाव्य वही प्रबन्धकाव्य माना जायेगा, जिसमें महदुद्देश्य, महच्चरित्र, समग्र युगजीवन का चित्रण, गरिमामयी और उदात्त शैली आदि महाकाव्य के सभी गुण पाये जाएँ। जिन प्रबन्धकाव्यों में महाकाव्य के उपयुक्त लक्षण नहीं मिलते, वे चाहे आकार में बड़े हों या छोटे, चाहे आठ से कम सर्गवाले हों या अधिक सर्गवाले, महाकाव्य नहीं माने जाएँगे। ऐसे प्रबन्धकाव्य दो प्रकार के होते हैं – एक तो वे, जिनमें किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण तो होता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है, पर समग्र युगजीवन का चित्रण नहीं होता और न महाकाव्य के अन्य सभी लक्षण पाये जाते हैं। दूसरे वे, जिनमें जीवन का खण्ड दृश्य चित्रित होता है और जो कथावस्तु की लघुता तथा उद्देश्य की सीमाओं के कारण बृहदाकार तथा महान नहीं बन पाते। इनमें से प्रथम प्रकार के प्रबन्धकाव्य को एकार्थकाव्य और दूसरे को खण्डकाव्य कहना उचित ही है। इस प्रकार के खण्डकाव्यों को ही रुद्रट ने लघुकाव्य कहा है।' खण्डकाव्य के उदाहरणों में जयद्रथ वध, नहुष, पथिक आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

लंबी कविता :– आधुनिक काल में अनेक शास्त्रीय स्थापनाओं में संदर्भानुसार शिथिलता आयी है। अब रस (श्रृंगार आदि) और फल (धर्म, काम, मोक्ष) के शास्त्र परिभाषित रूप पर प्रश्नचिह्न खड़ा किया जाने लगा है। नायक की धारणा में भी बदलाव आया है। यही कारण है कि अब महाकाव्य और खण्डकाव्य मुख्यधारा की साहित्यिक विधाएँ नहीं रह गयीं हैं। अब प्रबंध काव्य के उक्त दोनों रूपों की विशेष महत्ता नहीं रह गयी है। आधुनिक काल में प्रबंध परंपरा की उत्तराधिकारी 'लंबीकविता' को माना जा सकता है। उदाहरण के लिए राम की शक्ति–पूजा (सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'), प्रलय की छाया (जयशंकर प्रसाद) अंधेरे में (गजानन माधव मुक्तिबोध) और असाध्य वीणा (सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय') जैसी लंबी कविताओं का उल्लेख संभव है।

मुक्तक :– 'मुक्तक' कविता की एक विशेष पुरानी संज्ञा है। आधुनिक युग में 'मुक्तक' नाम का व्यवहार नहीं होता है। मंचीय कविता में अवश्य कुछ लोग चार–चार पंक्तियों के छोटे–छोटे मारक पद्यों को 'मुक्तक' के नाम से प्रस्तुत करते हैं। 'मुक्तक' की प्रकृति कथा आधारित प्रबन्ध काव्य से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें भाव–विशेष को आधार बनाकर पद्य रचा जाता है। 'साहित्य दर्पण' के अनुसार, ' यदि भाव, एक पद में निरूपित हो जाता है तो **'मुक्तक'** कहलाता है। दो पदों में उस भाव के निरुपण पर **'युग्मक'**, तीन में **'सदानितक'**, चार में **'कलापक'** और पाँच या इससे अधिक पदों से पूरा होने पर कुलक कहलाता है।'

पद, गीत, प्रगीत को भी मुक्तक कविता के भीतर शामिल किया गया है। पाश्चात्य कविता की विभिन्न शैलियों के प्रभाव में बने चतुर्दशपदी, शोक गीत और कोरस को भी मुक्तक काव्य के अंतर्गत रखा जाता है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि कविता के उल्लिखित भेदों की गणना प्रायः आधुनिक आलोचना में नहीं होती। हाँ, शास्त्रीय चर्चा में निश्चित रूप से इन भेदों का अपना महत्त्व है।

आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ कविता :– ये कविता के आधुनिक विभाजन हैं। इन विभाजनों का आधार कविता में निहित अनुभूति का स्वरूप है। उल्लिखित विभाजन को स्पष्टता से समझने के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर की निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं :–

"साधारणतः काव्य के दो विभाग किए जा सकते हैं। एक तो वह जिसमें केवल कवि की बात होती है और दूसरी वह जिसमें किसी बड़े सम्प्रदाय या समाज की बात होती है।

कवि की बात का तात्पर्य उसकी सामर्थ्य से है जिसमें उसके सुख–दुःख, उसकी कल्पना और उसके जीवन की अभिज्ञता के अन्दर से संसार के सारे मनुष्यों के चिरंतन हृदयावेग और जीवन की मार्मिक बातें आप–ही–आप प्रतिध्वनित हो उठती हैं।

दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदय को, अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है। इस दूसरी श्रेणी के ही कवि महाकवि कहे जाते हैं।"

प्रगीत :– यह आधुनिक युग की काव्य विधा है। 'प्रगीत' (लिरिक) की चर्चा करते समय गीत का भी उल्लेख किया जाता है। काव्य–मर्मज्ञों के अनुसार गीत और प्रगीत में एक सामान्य अंतर है। प्रगीत में गायन की अनिवार्यता नहीं है, जबकि गीत में संगीतात्मकता मूलभूत विशेषता है। प्रगीत में छंदों का होना ज़रूरी नहीं। इसमें लय का स्वाधीन उपयोग संभव है। आधुनिक काल में छायावाद युग में अनेक ऐसे प्रगीतों की रचना हुयी है, जो मुक्त छंद में हैं। कालांतर में छंद युक्त प्रगीतों की भी रचना होने लगी।

आमतौर पर प्रगीत उन्हीं रचनाओं को कहा जाता है, जिनमें वैयक्तिक भाव की तीव्रता होती है। लेकिन वस्तुगत परिस्थितियों के आलोक में ही भावानुभूति को प्रकट किया जाता है। उदाहरण स्वरूप पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की निम्नांकित काव्य–पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं :–

क) स्नेह–निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आम की यह डाल जो सूखी दिखी
कह रही हैं "अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ –
जीवन दह गया है।"

ख) 'रुद्र कोष, है क्षुब्ध तोष,
अंगना अंग से लिपटे भी
आतंक अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र गर्जन से बादल।
त्रस्त नयन मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर।
चूस लिया है उसका सार,
हाड़ मात्र ही हैं आधार
ऐ जीवन के पारावर ! (बादल–राग)

उल्लिखित दो कविताओं में पहली कविता का विषय है, स्वयं कवि व्यक्तित्व। दृष्टि और दृश्य दोनों कवि के व्यक्तिगत जीवन से संबंधित हैं। वहीं दूसरी कविता में दृष्टि तो कवि की है, लेकिन दृश्य बहिर्जगत् का है। इस तरह पहली कविता के विवरण भावना को घनीभूत करते हैं। जबकि दूसरी कविता के विवरण वस्तुगत दृश्य के नाटकीय संगठन को प्रस्तुत करते हैं। जहाँ पहली कविता में भाव के प्रवाह की साक्षी कवि की दृष्टि है, वहीं दूसरी कविता में कवि दृष्टि के साथ बाह्य दृश्य और घटना का तनाव भी जुड़ा है।

छंदमुक्त कविता : आधुनिक काल में छंद के शास्त्रीय नियम या तो शिथिल हुए या फिर टूट गये, इससे कविता के स्वाधीन विकास की दिशा तय हुयी। निराला ने परिमल की भूमिका में छंद के टूटने की घटना को कविता की मुक्ति कहा। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, **'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कार्यों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना।'**

1.9 लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1 : काव्य–लक्षण, काव्य–हेतु और काव्य–प्रयोजन को परिभाषित कीजिए।

उत्तर : काव्य–लक्षण का अर्थ हुआ काव्य के लक्षण को निर्धारित करना। काव्य–लक्षण में लक्षण की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है, 'लक्षण लक्ष्यभूत पदार्थ की कोई ऐसी विशेषता है, जिसमें अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष न हो, साथ ही जो नामोल्लेख इत्यादि व्यवहार–साधक उपायों से अलग हो।' संस्कृत के विभिन्न आचार्यों ने अपने–अपने विचारों के अनुसार काव्य लक्षण को निर्धारित किया है। इन आचार्यों में आचार्य भरतमुनि, भामह, कुंतक, मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि द्वारा निर्धारित काव्य लक्षण अत्यंत उल्लेखनीय हैं। काव्य–रचना के कारणों को 'काव्य हेतु' कहते हैं। अन्य शब्दों में कहें तो 'काव्य हेतु' वह शक्ति है, जिससे कवि काव्य रचना कर पाता है। चार प्रकार के काव्य हेतुओं की चर्चा प्रायः होती है – प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास और समाधि। काव्य प्रयोजनों का तात्पर्य है, काव्य से प्राप्त फल, जैसे – यश, धन, आनन्द आदि। इस तरह काव्य प्रयोजन वह फल है जो काव्य के द्वारा कवि को प्राप्त होता है।

प्रश्न 2 : 'काव्य–हेतु' और 'काव्य–प्रयोजन' का अंतर स्पष्ट करते हुए, विभिन्न काव्य हेतुओं और 'काव्य–प्रयोजनों' का उल्लेख कीजिए।

उत्तर : 'कवि–कर्म' की उपलब्धि काव्य होता है। काव्य कृति के लिए कोई–न–कोई कारण या हेतु अनिवार्य होता है। काव्य–रचना के जो कारण होते हैं, उन्हें ही काव्य हेतु कहते हैं। जहाँ काव्य–रचना के कारण 'काव्य–हेतु' कहलाते हैं, वहीं काव्य–रचना से प्राप्त फल को 'काव्य–प्रयोजन' कहते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विभिन्न प्रकार के काव्य–हेतु इस प्रकार हैं :–

1) **प्रतिभा** – नये–नये भावों के उन्मेष से युक्त प्रज्ञा को 'प्रतिभा' कहते हैं। प्रतिभा के दो भेद हैं : कवि का उपकार करने वाली प्रतिभा **'कारयित्री'** कहलाती है और भावक का उपकार करने वाली प्रतिभा **'भावयित्री'** कहलाती है।

2) **व्युत्पत्ति** – बहुज्ञता अथवा उचित–अनुचित का विवेक व्युत्पत्ति है।

3) **अभ्यास** – निरंतर प्रयास करते रहने को अभ्यास कहते हैं।

4) **समाधि** – मन की एकाग्रता को समाधि कहते हैं।

प्रायः छः काव्य–प्रयोजन स्वीकार किए जाते हैं :–

1) यश की प्राप्ति 2) धन की प्राप्ति 3) व्यावहारिक ज्ञान की उपलब्धि

4) अनिष्ट का नाश 5) अलौकिक आनन्द की तुरंत प्राप्ति

6) कान्ता के समान मधुर उपदेश।

प्रश्न 3 : महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक को परिभाषित कीजिए।

उत्तर : प्राचीन काव्यशास्त्रीय विवेचन काव्य के तीन प्रकारों की चर्चा करते हैं – महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक। महाकाव्य और खंडकाव्य की मूलभूत विशेषता कथातत्त्व की उपस्थिति है, इसलिए काव्य के इन दोनों रुपों को प्रबन्ध काव्य कहते हैं। 'महाकाव्य' में प्रधान चरित्र के जीवन की समग्रता का वैविध्य और विस्तार होता है। 'खण्डकाव्य' में मुख्य चरित्र या प्रधान चरित्र के जीवन की किसी प्रमुख घटना का वर्णन होता है, इसलिए उसमें महाकाव्य की तरह विविधता और विस्तार नहीं होता।

'मुक्तक काव्य' में कोई कथा–सूत्र नहीं होता, उसमें किसी एक भाव की स्वतंत्र नियोजना होती है।

प्रश्न 4 : 'महाकाव्य' की प्रमुख विशेषताएँ बताइए, कुछ प्रमुख महाकाव्यों के नाम बताइए।

उत्तर : प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार, महाकाव्य की निम्नांकित विशेषताएँ हैं –

महाकाव्य सर्गों में विभक्त होता है। सर्गों की न्यूनतम संख्या आठ होती है। सर्ग न बहुत छोटे होते हैं और न ही बहुत बड़े। हर सर्ग में एक ही छंद होता है। लेकिन सर्ग का अंतिम पद्य भिन्न छंद का होता है। सर्ग के अंत में अगली कथा की सूचना होती है। प्राचीन मान्यतानुसार महाकाव्य का नायक देवता या उच्च कुल का क्षत्रिय होता है। श्रृंगार, वीर और शांत रस में से कोई एक रस अंगी होता है, जबकि अन्य रस अंगी होते हैं। महाकाव्य में नाटक की समस्त संधियाँ रहती हैं। कथा का स्वरूप ऐतिहासिक अथवा लोक प्रसिद्ध होता है। महाकाव्य का फल धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष होता है। इसमें खलों और सज्जनों के गुणों या विशेषताओं का वर्णन होता है।

संध्या, सूर्य, चंद्रमा, रात्रि, दिन, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह आदि का विस्तृत वर्णन होता है।

हिन्दी के कुछ प्रमुख महाकाव्य हैं – पृथ्वीराज रासो (चंदबरदायी), पद्मावत (जायसी), रामचरितमानस (तुलसीदास), साकेत (मैथिलीशरण गुप्त), कामायनी (जयशंकर प्रसाद)।

प्रश्न 5 : महाकाव्य और खण्डकाव्य में अंतर को निरूपित कीजिए। दोनों के उदाहरण बताइए।

उत्तर : आमतौर पर आठ या आठ से अधिक सर्गों वाले प्रबन्ध काव्यों को महाकाव्य और उससे कम सर्गों वाले प्रबन्ध काव्यों को खण्डकाव्य कहने की परंपरा रही है, पर यह विभाजन तर्कसंगत या वैज्ञानिक नहीं है।

'महाकाव्य' उसी प्रबन्ध काव्य को कहेंगे, जिसमें महत् उद्देश्य, महत् चरित्र, समग्र युगजीवन का चित्रण, गरिमामयी और उदात्त शैली हो। जिन प्रबन्ध काव्यों में 'महाकाव्य' के उल्लिखित लक्षण नहीं होते, वे चाहे आकार में बड़े हों या छोटे, आठ सर्ग से कम हो या अधिक 'महाकाव्य' नहीं कहलाएँगे। 'खण्डकाव्य' 'महाकाव्य' से अलग इस अर्थ में होता है कि वह एक देशानुसारी होता है, अर्थात् उसमें जीवन का खंड दृश्य चित्रित होता है। खण्डकाव्य भी 'सर्गबद्ध' होते हैं, इसके भी प्रत्येक सर्ग में छंद का बंधन होता है, पर छंद परिवर्तन आवश्यक नहीं। उसी तरह प्रकृति वर्णन हो सकता है, लेकिन उसका होना अनिवार्य नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हिन्दी के कुछ प्रमुख महाकाव्य हैं – पृथ्वीराज रासो (चंदबरदायी), पद्मावत (मलिक मुहम्मद जायसी), रामचरित मानस (तुलसीदास), साकेत (मैथिलीशरण गुप्त), कामायनी (जयशंकर प्रसाद)। खण्डकाव्य के उदाहरणों में जयद्रथ वध (मैथिलीशरण गुप्त), नहुष (मैथिलीशरण गुप्त), पथिक, मिलन, स्वप्न (तीनों रामनरेश त्रिपाठी) आदि।

1.10 अति लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– 'काव्य हेतु' क्या है ?
उत्तर– 'काव्य हेतु' किसी कवि की वह शक्ति है, जिससे वह काव्य सृजन करता है।
प्रश्न 2– 'काव्य–हेतुओं के नाम लिखिए।
उत्तर– काव्य हेतु चार हैं – प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास और समाधि।
प्रश्न 3– 'काव्य–प्रयोजन' क्या है?
उत्तर– 'काव्य–प्रयोजन का अर्थ है, काव्य रचना से प्राप्त फल।
प्रश्न 4– काव्य–प्रयोजनों का उल्लेख कीजिए।
उत्तर– प्रायः छः काव्य प्रयोजनों की चर्चा की जाती है – 1) यश प्राप्ति 2) धन प्राप्ति 3) व्यावहारिक ज्ञान की उपलब्धि 4) अनिष्ट का नाश 5) अलौकिक आनन्द की प्राप्ति और 6) कान्ता के समान मधुर उपदेश।
प्रश्न 5– काव्य के प्रमुख प्राचीन भेदों की चर्चा कीजिए।
उत्तर– काव्य के प्राचीन तीन प्रमुख भेद हैं – महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक।
प्रश्न 6– 'काव्य हेतु' और 'काव्य–प्रयोजन' में अंतर बताइए ।
उत्तर– जहाँ 'काव्य–प्रयोजन' का अर्थ काव्य से प्राप्त फल से जुड़ता है, वहीं 'काव्य–हेतु' वह शक्ति है, जिससे कवि काव्य की रचना कर पाता है।
प्रश्न 7– 'काव्यशास्त्र' में 'साहित्य' को 'काव्य' का समानार्थी मानकर कितने मुख्य विभाजन किए गए हैं ?
उत्तर– 'काव्यशास्त्र' में 'साहित्य' को 'काव्य' का समानार्थी मानकर, दो मुख्य विभाजन किए गए हैं –
क) श्रव्य काव्य और
ख) दृश्य काव्य।
प्रश्न 8– पद्य में सौन्दर्य या आस्वाद हेतु किन प्रमुख विशेषताओं का रहना आवश्यक है?
उत्तर– पद्य में सौन्दर्य या आस्वाद हेतु छंद अथवा लय अन्य शब्दों में कहें तो 'लोच' का रहना आवश्यक है।
प्रश्न 9– कविता की वंशगत विशेषता क्या है ?
उत्तर– कविता की वंशगत विशेषता 'लय' है ।
प्रश्न 10– कविता के आधुनिक भेद क्या हैं ?
उत्तर– कविता के आधुनिक भेद हैं – आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ।
प्रश्न 11– 'गीत' और 'प्रगीत' में क्या अंतर है ?
उत्तर– गीत में 'गेयता' अनिवार्य है, जबकि प्रगीत में 'गेयता' का होना आवश्यक नहीं।
प्रश्न 12– आधुनिक काल में 'प्रबंध परंपरा' का उत्तराधिकारी कौन काव्य रूप है ?
उत्तर– आधुनिक काल में प्रबंध कविता का उत्तराधिकारी 'लंबी कविता' को माना जा सकता है।
प्रश्न 13– मुक्तक क्या है ?
उत्तर– यदि भाव एक पद में निरूपित हो जाय, तो मुक्तक कहलाता है।
प्रश्न 14– तीन प्रमुख 'महाकाव्यों' के नाम लिखिए।
उत्तर– तीन प्रमुख महाकाव्य हैं – 1) चंदबरदायी रचित 'पृथ्वीराज रासो' 2) मलिक मुहम्मद जायसी रचित 'पद्मावत' 3) तुलसीदास रचित 'रामचरितमानस'।
प्रश्न 15– तीन खण्डकाव्यों के नाम बताइए।
उत्तर– तीन खण्डकाव्य हैं – 'जयद्रथ वध' (मैथिलीशरण गुप्त), 'पथिक' और 'मिलन' (रामनरेश त्रिपाठी)।
प्रश्न 16–'नाट्यशास्त्र' के रचनाकार का नाम बताइए।
उत्तर– 'नाट्यशास्त्र' के रचनाकार हैं – आचार्य भरतमुनि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 17– भामह की कृति का नाम बताइए।
उत्तर– भामह की कृति है – 'काव्यालंकार'।
प्रश्न 18– 'काव्यादर्श' किसकी कृति है ?
उत्तर– 'काव्यादर्श' के रचनाकार हैं – दण्डी ।
प्रश्न 19– रुद्रट की कृति का उल्लेख कीजिए।
उत्तर– रुद्रट की कृति है – 'काव्यालंकार'।
प्रश्न 20– वामन की रचना का नाम बताइए।
उत्तर– वामन की रचना है – 'काव्यालंकार सूत्र'।
प्रश्न 21– 'प्रतिभा' क्या है ?
उत्तर– नये–नये भावों के उन्मेष से युक्त प्रज्ञा को 'प्रतिभा' कहते हैं।
प्रश्न 22– प्रतिभा के प्रमुख भेदों का उल्लेख कीजिए।
उत्तर– प्रतिभा के प्रमुख भेद हैं –
1) कारयित्री – कवि का उपकार करने वाली प्रतिभा है – कारयित्री प्रतिभा।
2) भावयित्री – भावक का उपकार करने वाली प्रतिभा 'भावयित्री प्रतिभा' कहलाती है, इससे कवि के श्रम तथा अभिप्राय का बोध होता है।
प्रश्न 23– 'व्युत्पत्ति' क्या है ?
उत्तर– काव्यशास्त्रीय परंपरा में उचित–अनुचित का विवेक व्युत्पत्ति है।
प्रश्न 24– 'अभ्यास' क्या है ?
उत्तर– निरंतर प्रयास करते रहने को 'अभ्यास' कहते हैं।
प्रश्न 25– 'समाधि' क्या है ?
उत्तर– मन की एकाग्रता को 'समाधि' कहते हैं।
प्रश्न 26– भामह प्रवर्तित 'काव्य–लक्षण' बताइए।
उत्तर– भामह प्रवर्तित 'काव्य–लक्षण' है – 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। अर्थात् शब्द और अर्थ का सहित भाव काव्य है।
प्रश्न 27– रसात्मक वाक्य को 'काव्य' किसने कहा है ?
उत्तर– आचार्य विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को 'काव्य' कहा है।
प्रश्न 28– पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार 'काव्य' किसे कहते हैं ?
उत्तर– पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं।
प्रश्न 29– मम्मट की रचना का नाम बताइए।
उत्तर– मम्मट की कृति है – 'काव्य प्रकाश'
प्रश्न 30–'ध्वन्यालोक' किसकी रचना है ?
उत्तर– 'ध्वन्यालोक' के रचनाकार हैं – आनन्दवर्धन।

1.11 सारांश

संस्कृत काव्यशास्त्र के कतिपय महत्वपूर्ण शब्दावली से इस अध्याय में आप परिचित हुए। काव्य–लक्षण, काव्य–हेतु काव्य–प्रयोजन से आप विस्तार से रु–ब–रु हुए। काव्य के प्राचीन भेदों और आधुनिक भेदों में काफी अंतर है। काव्य के अनेक प्राचीन रूप युगानुरूप संदर्भों के आलोक में नए रुप में बदले। इन सभी पक्षों का सम्यक विवेचन किया गया जिनसे आपकी समझदारी में बढ़ोत्तरी हुयी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 2

रस–सिद्धान्त

रस का स्वरूप, रस निष्पत्ति, रस के अंग, साधारणीकरण, सहृदय की अवधारणा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 रस का स्वरूप
2.3 रस निष्पत्ति
2.4 रस के अंग
2.5 साधारणीकरण
2.6 महत्वपूर्ण दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
2.7 महत्वपूर्ण लघु उत्तरीय प्रश्न
2.8 अति लघु उत्तरीय प्रश्न
2.9 सारांश

2.0 प्रस्तावना

काव्य की आत्मा की तलाश में पहल 'रस–सिद्धान्त' ने की। उपनिषदों में 'रसो वै सः' कहकर रस और ब्रह्म को अभिन्न दिखाया गया। 'रस–सिद्धान्त' का सबसे पहला उल्लेख भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। 'नाट्यशास्त्र' का रचना–समय विद्वानों ने ईसा पूर्व दूसरी शती से सन् ईस्वी दूसरी शती तक माना है। आचार्य भरत द्वारा 'नाट्यशास्त्र' में 'रस' का सांगोपांग विवेचन किया गया है, इससे यह पता चलता है कि उनके पहले भी 'रस' की एक सुदीर्घ परंपरा रही होगी। 'नाट्यशास्त्र' में उद्धृत किए गए आनुवंश्य श्लोकों से यह बात प्रमाणित हो जाती है।

आचार्य भरत के लगभग चार सौ वर्षो बाद भामह ने 'काव्यालंकार' की रचना की। काव्यलंकार' पहला उपलब्ध ग्रन्थ है, जिसे रस विरोधी कहा जाता है। यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि शायद रस की अवधारणा कालांतर में अधिकाधिक अमूर्तन का शिकार होती गयी हो, इसलिए भामह ने रस के प्रचलित अलौकिकत्व और आनन्द पक्ष के साथ अलंकार को व्यापक अर्थ देकर काव्य की रूपात्मकता को भी उसमें अन्तर्भुक्त कर लिया हो।

आइए कुछ महत्वपूर्ण प्रसंगों और प्रश्नों के माध्यम से इस सिद्धान्त का व्यापक अध्ययन करे।

2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययन करने से हम–

1. रस के स्वरूप का जान सकेंगे,
2. रस निष्पत्ति को समझ सकेंगे,
3. रस के अंग की जानकारी कर सकेंगे,
4. साधारणीकरण एवं सहृदय की अवधारणा को समझ सकेंगे।

2.2 रस का स्वरूप– भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा में 'रस' की धारणा सर्वाधिक प्रतिष्ठित है। ऐसा कोई भी काव्य सिद्धान्त नहीं है, जो किसी–न–किसी रूप में काव्य के आनन्द की महत्ता को स्वीकार न करता हो। **'काव्य' या 'नाटक'को क्रमशः पढ़ने**

और देखने पर जो विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, उसे 'रस' कहते हैं। यह रस साधारण जीवन में प्राप्त होने वाले आनन्द से भिन्न होता है। वस्तुतः काव्य की अनुभूति एवं आनन्द व्यक्तिगत संकीर्णताओं से मुक्त होता है, और इसी अर्थ में वह भिन्न और विशिष्ट होता है। **जब हम स्व–पर की सीमा से बाहर निकलकर मनुष्य मात्र के सुख–दुख से सुखी–दुखी होने लगते हैं, तब हममें व्यक्तिगत संकीर्णताओं का तिरोभाव हो जाता है। इसे ही रस–दशा कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने व्यक्तिगत संकीर्णताओं से मुक्त ऐसे अनुभव को 'हृदय की मुक्तावस्था' कहा है। हृदय की मुक्तावस्था को ही 'रस–दशा' कहते हैं।** रस–दशा को प्राप्त करने की साधना को 'भावयोग' कहते हैं, जैसे – भोग से चित्त का संस्कार होता है, वैसे ही काव्य से भाव का। इस भावयोग में स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का योग होता है, संस्कृत काव्यशास्त्र इसे ही 'रस' कहता है। रस–प्रक्रिया के कारण जीवन का व्यक्तिगत अनुभव और आनंद मनुष्य मात्र के अनुभव और आनंद में रूपान्तरित हो जाता है। जीवन के अनुभव और आनन्द से काव्य का अनुभव और आनन्द बुनियादी रूप से अलग नहीं होता, हाँ विशिष्ट अवश्य होता है।

2.3 रस निष्पत्ति– रस–सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में रस के संदर्भ में एक सूत्र दिया 'विभावानुभाव व्यभिचारीसंयोगाद् रस निष्पत्तिः'।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से 'रस निष्पत्ति' होती है। इस तरह भरतमुनि ने 'निष्पत्ति' पद का प्रयोग रस–विवेचन के संदर्भ में किया। 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ है – प्रकाशन, उत्पत्ति, पूर्णता या परिपक्वता। लेकिन 'रसनिष्पत्ति' काव्यशास्त्र के अंतर्गत काव्य की सौन्दर्यानुभूति के समकक्ष स्वीकृत पद रहा है। काव्यानुभूति, काव्यानन्द जैसे पद वस्तुतः एक प्रकार से 'रस निष्पत्ति' के समानार्थी रहे हैं। भरतमुनि के सूत्र में 'निष्पत्ति' और 'संयोग' प्रमुख शब्द रहे हैं। ये शब्द जितने महत्त्वपूर्ण रहे हैं, उतने ही विवादास्पद भी। कालांतर में भिन्न–भिन्न व्याख्याएँ कर अपने–अपने मतों की स्थापनाएँ की गयीं। ऐसे आचार्यों में चार प्रमुख हैं, उनके नाम और रस निष्पत्ति सिद्धान्त इस प्रकार हैं –

1) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद
2) शंकुक का अनुमितिवाद
3) भट्टनायक का भुक्तिवाद और
4) अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद।

2.4 रस के अंग– रस स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से निर्मित या अभिव्यक्त होता है। इन्हीं को रस के अवयव या अंग कहते हैं।

स्थायी भाव– स्थायी भाव उस भाव को कहते हैं जो रस की अवस्था तक पहुँचता है। अनुभाव और संचारी भाव रस दशा तक नहीं पहुँचते। स्थायी भावों की संख्या आठ,नौ या दस मानी गयी है – रति, हास, उत्साह, शोक, क्रोध,भय, घृणा या ज़ुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद, वत्सल। इन्हीं स्थायी भावों के आधार पर रस की संख्या निर्धारित की जाती है।

विभाव – विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं और विषयों के वर्णन से है, जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है। अर्थात् भाव के जो कारण होते हैं, उन्हें ही विभाव कहते हैं। विभाव के दो प्रकार हैं – 1) आलंबन और 2) उद्दीपन।

आलंबन विभाव– भाव जिन वस्तुओं या विषयों पर आलंबित होकर उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'आलंबन विभाव' कहते हैं। उदाहरण के लिए – नायक–नायिका। 'आलंबन विभाव' के दो भेद हैं–
1) आश्रय – जिस व्यक्ति के मन में रति, हास आदि भाव पैदा होते हैं, उसे आश्रय कहते हैं।
2) विषय – जिस वस्तु या व्यक्ति के लिए आश्रय के मन में भाव पैदा होते हैं, उसे विषय कहते हैं।

जैसे– यदि नायक के मन में नायिका के प्रति रति भाव जगता है तो नायक आश्रय होगा और नायिका विषय। उसी तरह यदि नायिका के मन में नायक के प्रति रति भाव उत्पन्न हो तो नायिका आश्रय और नायक विषय होगा।

उद्दीपन विभाव– आश्रय के मन में भाव को उद्दीप्त करने वाले विषय की बाह्य चेष्टा और बाह्य वातावरण 'उद्दीपन विभाव' कहलाता है। उदाहरण के लिए दुष्यंत शिकार करता हुआ कण्व ऋषि के आश्रम में जा निकलता है, जहाँ शकुन्तला को देखता है। शकुन्तला को देखने के बाद दुष्यन्त के मन में आकर्षण या रति भाव पैदा होता है। उस समय शकुन्तला की शारीरिक चेष्टाएँ दुष्यन्त के मन में रति भाव को और तीव्र करती है। इस तरह शकुन्तला की शारीरिक चेष्टाओं को 'उद्दीपन विभाव' के अंतर्गत् समाहित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

किया जाएगा। वन का एकांत वातावरण दुष्यन्त के रति भाव को और भी बढ़ाता है। इस तरह शकुन्तला की शारीरिक चेष्टाएँ और वन का एकांत वातावरण दोनों ही उद्दीपन विभाव हुए।

अनुभाव– आश्रय के शरीर विकारों को 'अनुभाव' कहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे विषय की बाहरी चेष्टाओं को उद्दीपन कहते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि अनुभाव हमेशा आश्रय से सम्बन्धित होते हैं।

संचारी भाव– 'संचारी भाव' मन के चंचल विकारों के कहते हैं। ये आश्रय के मन में उत्पन्न होते हैं। इन्हें 'व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। जैसे– शकुन्तला के प्रति रति भाव के कारण शकुन्तला को देखकर दुष्यंत के मन में मोह, हर्ष, आवेग आदि जो भाव पैदा होंगे वे संचारी भाव कहलाएँगे।

2.5 साधारणीकरण– 'साधारणीकरण' पद का सम्बन्ध 'रस–सिद्धान्त' से है। सबसे पहले इसका प्रयोग भट्टनायक ने भरतमुनि की रसनिष्पत्ति सम्बन्धी सूत्र की व्याख्या के संदर्भ में किया। रससूत्र की व्याख्या क्रम में पूर्ववर्ती आचार्यों की व्याख्या के दोषों को दूर करने के लिए भट्टनायक ने इस पद का प्रयोग किया। उनके अनुसार भट्टलोल्लट कृत आरोपवाद और शंकुक कृत अनुमितिवाद संबंधी स्थापनाओं में जो तटस्थता और आत्मगत तत्त्व दोष आ जाते हैं, उनके परिहार के लिए 'साधारणीकरण' की स्वीकृति आवश्यक है।

'साधारणीकरण' शब्द का अर्थ है – व्यक्ति का विलयन, निर्वैयक्तीकरण, सम्बन्ध विशेष का त्याग, असाधारण को साधारण रूप में प्रस्तुत कर देना आदि। रसानुभूति या सौन्दर्यनुभूति से 'साधारणीकरण' का गहरा संबंध है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी सभी का 'साधारणीकरण' माना है। कवि की रचना प्रक्रिया में वे साधारणीकृत हो जाते हैं, जिसका अनुभव पाठक अपने आदिम संस्कारों के कारण करता है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

2.6 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– रस के स्वरूप पर विचार कीजिए।

अथवा

रस के स्वरूप पर विभिन्न आचार्यों के विश्लेषण का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर– संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रस सिद्धान्त' को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। ऐसा कहा जा सकता है कि 'रस सिद्धान्त' भारतीय काव्यशास्त्र का मूल आधार और महत्तम उपलब्धि है। दुनिया का कोई भी ऐसा काव्य–सिद्धान्त नहीं है, जो किसी–न–किसी रूप में रस की महत्ता स्वीकार करता हो। 'काव्य' या 'नाटक' पढ़ने, देखने से जो विशेष तरह का आनन्द प्राप्त होता है, उसे रस कहते हैं। 'रस' साधारण जीवन के आनन्द से विशिष्ट इस अर्थ में होता है कि वह व्यक्तिगत संकीर्णताओं से मुक्त होता है। 'रस' को भारतीय मनीषा ने व्यापक मान्यता प्रदान की है। भरतमुनि से जो रस संबंधी विमर्श आरंभ हुए, उत्तरोत्तर उनमें परिष्कार आता गया और रस की स्वीकृति और प्रतिष्ठा का दायरा बढ़ता गया। 'साहित्य दर्पण' के लेखक आचार्य विश्वनाथ तक आते–आते काव्य की आत्मा निर्विवाद रूप से 'रस' हो गई। यहाँ तक कि सर्वोत्तम कविता का आदर्श उसे माना गया, जिसमें रस ध्वनित हो। आधुनिक काल के श्रेष्ठ आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा देते हुए रस की सत्ता को सर्वोपरि माना, 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार ह्रदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। ह्रदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं'।

पर कविता की दुनिया में उपस्थित रस की सत्ता को पूरी तरह से समझने के लिए उसके स्वरूप पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है। विभिन्न आचार्यों ने रस के स्वरूप पर विचार किया,उन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है –

1) आचार्य भरत मुनि और रस का स्वरूप – आचार्य भरत मुनि ने अपनी कृति 'नाट्यशास्त्र' में 'रस' की परिभाषा पर विचार नहीं किया है। लेकिन रस पदार्थ का विश्लेषण उन्होंने अवश्य किया है। वे अपना विश्लेषण प्रकट करते हुए कहते हैं, जैसे विभिन्न व्यंजनों से संस्कृत अन्न का भोजन करते हुए सुन्दर मन वाले पुरुष रसास्वादन करते हैं तथा हर्ष आदि को प्राप्त करते हैं, उसी तरह विभिन्न भावाभिनय से व्यंजित वाणी अंग और सत्य से युक्त स्थायी भावों का सुन्दर मन वाले प्रेक्षक आस्वाद लेते हैं और हर्षादि को प्राप्त करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भरतमुनि ने रस को आस्वाद्य माना है तथा उसके लिए अन्न के आस्वादन का उदाहरण दिया है। परवर्ती आलोचकों का आक्षेप है कि भरत ने रस को विषयगत माना है जो रस–सिद्धान्त की सर्वाधिक भयंकर त्रुटि है। पर वास्तविकता यह है कि भरतमुनि के अनुसार, कोई भी रस तभी रसरूपता को धारण कर सकता है, जब उसका आस्वादन किया जाये और आस्वादन करने वाला सामाजिक या सहृदय के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। जब सामाजिक या सहृदय अभिनय आदि देखते समय श्रृंगार आदि की भावना का आस्वादन करता है, हर्ष का अनुभव करता है या अन्य शब्दों में कहें तो रसास्वादन करता है, उस समय वह रस में डूब जाता है। नाटक या काव्य की प्रक्रिया के बाद आस्वादन नष्ट हो जाता है, लेकिन हर्ष की अनुभूति देर तक बनी रहती है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि रस और हर्ष का अर्थ एक ही नहीं होता। यही कारण है कि भरतमुनि रस और हर्ष का अलग–अलग उल्लेख करते हैं। उसके बाद वे स्पष्ट रूप से इस प्रकार अपनी मान्यता प्रकट करते हैं – 'रस एक प्रकार की भावमूलक कलात्मक स्थिति है जो कविनिबद्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के प्रसंग से नाट्य–सामग्री के द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत की जाती है।

2) अभिनवगुप्त की रस संबंधी मान्यता– 'रस' के विश्लेषण क्रम में जिन आचार्यों की गणना होती है, उनमें अभिनवगुप्त का स्थान केन्द्रीय महत्त्व का है। इन्होंने अपनी मान्यता की व्याख्या शैव–दर्शन के आधार पर की है। उनका कहना है, रस का अर्थ है आनन्द और आनन्द विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है। विषय तो आत्म–परामर्श अथवा आत्म–स्वाद का माध्यम मात्र है, जिसके द्वारा प्रमाता 'संविद–विश्रांति' लाभ करता है। यह 'संविद–विश्रांति' ही आनन्द है। उनके विवेचन को सारांशतः इस तरह प्रकट किया जा सकता है :–

'नाट्य एक विशेष प्रकार के अर्थ को कहते हैं, जिसका द्योतन अभिनय के द्वारा होता है। जब नट कौशल के साथ अभिनय करता है और प्रेक्षक या पाठक एकांत होकर निश्चल मन से उसका परिशीलन करता है तब वह काव्यार्थ उसके सामने प्रत्यक्ष सा आ जाता है। उस काव्यार्थ में अनेक विभाव, अनुभाव इत्यादि भरे होते हैं और वह काव्यार्थ उन्हीं का समूह होता है, लेकिन विभावगत समस्त जड़ पदार्थों का विलय विभिन्न पात्रों की संवेदना में होता है और संवेदना का विलय रंगमंच पर स्थित विशिष्ट भाव के भोक्ता पात्र की चित्त–वृत्ति में हो जाता है। समस्त पात्रों की चित्त–वृत्ति का विलय प्रधान भोक्ता की चित्त वृत्ति में हो जाता है। समस्त जड़–प्रकृति कवि के प्रभाव से तत्स्थानीय पात्र की चित्त–वृत्ति के अनुसार ही देखता है। इस स्थान पर काव्य–कला का क्षेत्र उपस्थित होता है। लौकिक गीत, गेय पद आदि के समस्त अंग उस काव्यार्थ के स्वीकृत लक्षणों और गुणों में एक प्रकार का जीवन डाल देते हैं। गीत, वाद्य आदि दर्शनीय कलाओं द्वारा काव्य भली–भाँति रमणीय बन जाता है। दूसरी तरफ नट, निरंतर मालारूप में प्रयोग करता रहता है। इस तरह काव्य की महिमा और नट के अभ्यास के कारण वह एक (नायकगत) चित्त–वृत्ति व्यक्ति निष्ठा से अलग कर दी जाती है और इस तरह उसका 'साधारणीकरण' हो जाता है।'

अभिनवगुप्त के बाद के काव्यशास्त्रीय आचार्यों पर अभिनवगुप्त की इस व्याख्या की दूर तक अनुगूँज उपस्थित रही और अनेक संदर्भों में उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा।

3) रस का स्वरूप और आचार्य विश्वनाथ– आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप पर कोई अलग से विचार नहीं किया। उनके समय तक रस संबंधी जो स्वरूप स्थिर हुए थे, उनका उन्होंने उपयोगी संग्रह किया। इस संदर्भ में उनके इस बहुचर्चित श्लोक को उद्धृत किया जा सकता है –

'सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशनंद चिन्मयः
वेद्यान्तर स्पर्श शून्यो ब्रह्मस्वादसहोदर।
लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः,
स्वाकारादभिन्नत्वेनामास्वाद्यते रसः।'

अर्थात् चित्त में सतोगुण के उद्रेक की अवस्था में विशिष्ट संस्कारवान सहृदय अखंड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, अन्य समस्त प्रकार के ज्ञान से मुक्त, ब्रह्मानंद सहोदर, लोकोत्तरचमत्कारप्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्नतः आस्वादन करते हैं। इस श्लोक के आधार पर रस के स्वरूप का निर्धारण इस प्रकार किया जा सकता है –

1) रस का आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है।
2) रस का स्वरूप अखंड होता है।
3) यह स्वरूप अन्य ज्ञान से रहित होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4) रस स्वप्रकाशानन्द है।
5) रस चिन्मय है।
6) रस लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने वाला है।
7) रस ब्रह्मस्वादसहोदर होता है, और
8) रस अपने रूप से भिन्न है।

3) रस के स्वरूप पर पण्डितराज जगन्नाथ का मत– पण्डितराज जगन्नाथ संस्कृत काव्यशास्त्रीय परंपरा के अंतिम प्रबल और उल्लेखनीय आचार्य हैं, जिन्होंने रस के स्वरूप पर विचार किया है। परम्परा के नवीन उन्मेष से युक्त इनका पाण्डित्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। रस के स्वरूप पर लंबे विमर्श के बाद वे अपना उपसंहार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, 'इस प्रकार अभिनवगुप्त और मम्मट, भट्टनायक इत्यादि के ग्रंथों के अनुशीलन से यह सिद्धान्त निकलता है कि जब चेतना का आवरण भंग हो जाता है, उस स्थिति में रति इत्यादि जो स्थायी भाव होते हैं, उन्हें ही रस कहते हैं।' पण्डितराज जगन्नाथ की इस स्थापना से यह ध्वनित होता है कि सहृदय की चेतना में वासना सदैव स्थायी भाव के रूप में निहित रहती है, जब आवरण भंग हो जाता है, तब वह स्थायी भाव प्रकट हो जाता है, जो आनन्द को अपने भीतर निहित रखता है। इस तरह पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार, स्थायीभाव की आनन्दमयी चेतना ही रस है।

रस की अनिर्वचनीयता– प्रायः रस की अनिर्वचनीयता का उल्लेख होता है। विभाव अनुभाव आदि के संयोग से जो रस निष्पन्न होता है वह न तो विभाव ही है, न अनुभाव ही है, न संचारी भाव ही है, न स्थायी भाव ही है, न इन सबका योगफल है और इनके बिना रह ही सकता है। रस इन सब वस्तुओं से अलग है और फिर भी इन्हीं से निष्पन्न हुआ है। एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य इस संबंध में लक्षित करने योग्य है, वह यह है कि रस व्यंग्य होता है, वाच्य नहीं और रस निर्वैयक्तिक होता है। रस के व्यंग्य होने का अर्थ हुआ कि उसका कथन संभव नहीं है, वह लावण्य या कांति की तरह प्रतीयमान होता है। रस के निर्वैयक्तिक होने का तात्पर्य है कि वह व्यक्ति की संकीर्ण सीमाओं से अलग होता है।

प्रश्न 1– रस के अवयवों पर विचार कीजिए ।

अथवा

रस के अंगों का उल्लेख करते हुए, उनका विवेचन कीजिए।

उत्तर– रस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि नाट्यशास्त्र में कहते हैं –

'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद् रस निष्पतिः।'

अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के संयोग से रस निषात्ति होती है। यह संयोग स्थायी भाव के साथ होता है। अर्थात् रस के चार अंग या अवयव होते हैं –

क) स्थायी भाव
ख) विभाव
ग) अनुभाव, और
घ) संचारी भाव

इन चारों अंगों या अवयवों को विस्तार से इस प्रकार समझा जा सकता है –

स्थायी भाव– 'स्थायी भाव' के संबंध में विचार करने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि उसका निरूपण रस की दृष्टि से किया गया है। यह निरूपण में एक शास्त्रीय श्रेणी है। वह जीवन का स्थायी भाव नहीं है। इस तरह रस सिद्धान्त में 'स्थायी भाव' का तात्पर्य हुआ 'प्रधान भाव'। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विस्तार से रस के अवयवों पर विचार किया है, उन्होंने 'स्थायी भाव' को परिभाषित करते हुए कहा,

'प्रधान भाव (प्रचलित प्रयोग के अनुसार स्थायी) वही कहा जा सकता है जो रस की अवस्था तक पहुँचे।'

अर्थात् रस के अन्य अवयव, जैसे – अनुभाव और संचारी भाव रस दशा तक नहीं पहुँचते हैं। अनुभाव व संचारी भाव किसी–न–किसी भाव को पुष्ट करते हैं, और वही भाव पूर्ण रस दशा तक पहुँचता है। रति, शोक, उत्साह आदि भाव जीवन में प्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ाान या मुख्य होते हैं, वे ही रस की अवस्था प्राप्त करते हैं। स्थायी भावों की संख्या आठ, नौ या दस मानी गयी है। वे अपनी प्रध ाानता के कारण स्थायी भाव माने जाते हैं, अपने स्थायित्व के कारण नहीं।

वे स्थायी भाव जो रस रूप में परिणत होते हैं, उन्हें इस तरह समझा जा सकता है :–

स्थायी भाव	**रस रूप**
रति	श्रृंगार
हास	हास्य रस
शोक	करुण रस
क्रोध	रौद्र रस
उत्साह	वीर रस
भय	भयानक रस
जुगुप्सा	वीभत्स रस
विस्मय	अद्भुत रस
निर्वेद	शान्त रस
वत्सल	वात्सल्य रस।

इस प्रकार, स्थायी भावों का विकास ही रस रूप में होता है। यही कारण है कि स्थायी भावों की संख्या के अनुसार ही रसों की संख्या भी निर्धारित होती है।

विभाव– भाव के जो कारण होते हैं, उन्हें ही 'विभाव' कहते हैं। 'विभाव' की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है, 'विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं और विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है।'

विभाव दो प्रकार के होते हैं –

क) आलंबन विभाव, और ख) उद्दीपन विभाव।

क) आलंबन विभाव– भाव जिन वस्तुओं या विषयों पर आलंबित होकर प्रकट होते हैं, उन्हें आलंबन विभाव कहते हैं। उदाहरण के लिए नायक–नायिका। आलंबन विभाव के दो भेदों की चर्चा की जाती है – आश्रय और विषय।

आश्रय– जिस व्यक्ति के मन में रति, हास, शोक आदि भाव प्रकट होते हैं, शास्त्रीय शब्दावली में उसे 'आश्रय' संज्ञा दी जाती है।

विषय– आश्रय के मन में जिस वस्तु या व्यक्ति के लिए भाव उत्पन्न होते हैं, उसे ही 'विषय' कहते हैं।

इसे एक उदाहरण के माध्यम से अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। यदि नायक के मन में नायिका के प्रति रति का भाव जगता है तो नायक आश्रय होगा और नायिका विषय। उसी तरह यदि नायिका के मन में नायक के प्रति रति भाव उत्पन्न हो तो नायिका आश्रय और नायक विषय होगा।

ख) उद्दीपन विभाव– विषय की वे बाह्य चेष्टाएँ और बाह्य वातावरण जिनसे आश्रय के मन का भाव उद्दीप्त होता है, 'उद्दीपन विभाव' कहलाता है।

उदाहरण के लिए दुष्यंत शिकार खेलता हुआ महर्षि कण्व के आश्रम में जा निकलता है। वहाँ वह शकुन्तला को देखता है। शकुन्तला को देख कर दुष्यन्त के मन में आकर्षण या रति भाव उत्पन्न होता है। उस समय शकुन्तला की शारीरिक चेष्टाएँ दुष्यन्त के मन में रति भाव को और अधिक तीव्र करती है। इस प्रकार शकुन्तला की शारीरिक चेष्टाओं को उद्दीपन विभाव कहा जाएगा। वन–प्रदेश का एकान्त वातावरण दुष्यन्त के रति भाव को और अधिक तीव्र करने में सहायक होगा। इस प्रकार 'उद्दीपन विभाव' विषय की शारीरिक चेष्टा और अनुकूल वातावरण की संज्ञा हुयी।

अनुभाव – आचार्य भरतमुनि ने अनुभाव की स्थिति का उल्लेख करते हुए बताया है कि इसके द्वारा भाव व्यापार प्रतीति का विषय बनता है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'अनुभावैस्तु गम्यते'।

वे आगे बताते हैं –

'वागंगाभिनयेनेह यतस्तर्योऽनु भाव्यते।
शाखांगोपागं संयुक्तस्तु अनुभावः ततः स्मृतः ।

अर्थात् जो **भावों के बाद आते हैं, वे अनुभाव हैं।** वाणी, अंग संचालनादि के अभिनयस्वरूप रस का अनुभावन कराने वाले भाव अनुभाव कहे जाते हैं।

आचार्य विश्वनाथ इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं –

'उद्बद्ध कारणैः स्वैः स्ववर्हिभावं प्रकाशयन् ।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययो।'

यानी ह्रदय में उद्बुध–रति आदि को बाहर प्रकाशित करने वाले (लोक में जो रति का कार्य कहलाता है वही) काव्य तथा नाट्य में अनुभाव है।

वस्तुतः ह्रदय के भावों की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में मनुष्य में होने वाली शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाओं को जब काव्य में नायक आदि के अन्तर्गत् वर्णित किया जाता है तो उसे अनुभाव कहते हैं। अनुभावों की संख्या आठ बतायी जाती है– स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, विवर्णता, अश्रु और प्रलाप। इन्हें तीन भागों में विभक्त किया जाता है – 1) कायिक 2) वाचिक, और 3) सात्त्विक

कुछ विद्वानों ने 'आहार्य' को भी अनुभाव माना है।

कायिक अनुभाव– नायक आदि का किसी भाव व्यापार के वशीभूत होने पर, शरीर के विविध अंग–प्रत्यंगों की सहज चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहा जाता है।

जैसे – 'माथे लखन कुटिल भइ भौंहे। रद पट फरकत परम रिसौहै।

लक्ष्मण के क्रोध (अमर्ष) से वशीभूत होते ही ' भौंहों का कुटिल होना, होठों का फड़कना' ये कायिक या आंगिक अनुभाव हैं।

वाचिक अनुभाव– काव्य में नाटकादि का किसी भाव व्यापार के वशीभूत होकर वाणी द्वारा उसकी अभिव्यक्ति को वाचिक अनुभाव कहते हैं। उदाहरण के लिए –

'जौ तुम्हार अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं।'
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेह मूलक जिमि तोरी।'

अर्थात् किसी मनोविकार से प्रभावित होकर काव्य में नायकादि समाधि जैसी स्थिति में पहुँचते हैं। उस विशेष स्थिति में मानसी प्रभाव का शरीर के अंगों पर अभिव्यक्त संवेगात्मक प्रभाव ही सात्त्विक अनुभाव है। यह शरीर को जड़ता की स्थिति में रूपान्तरित कर देता है। कम्प, स्तम्भ, रोमांच, स्वरभेद, अश्रु, मूर्च्छा, स्वेद, विवर्णता इनकी संख्या आठ बतायी गयी है।

संचारी भाव– आचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में संचारी भाव को 'व्यभिचारी भाव' भी कहा है। उनके मतानुसार वि+अभि+चारी (चर् धातु) से निष्पन्न व्यभिचारी शब्द का अर्थ है – विविध प्रकार से रसाभिमुख होकर विचरण करने वाले भाव। चूँकि ये रसाभिमुख होकर संचरण करते हैं, इसलिए इन्हें संचारी भाव कहा जाता है।

संचारी या व्याभिचारी भाव की संख्या तैंतीस बतायी जाती है – निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, ब्रीडा, चंचलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद्, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विवोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, वितर्क। आचार्य भानुदत्त ने 'छल' के नाम से चौंतीसवें संचारी भाव का उल्लेख किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'चकपकाहट' को संचारी भाव की तरह मानते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उल्लिखित व्यभिचारी भावों को आचार्यों ने आत्मगत्, परगत और मध्यस्थ इन तीन भागों में विभक्त किया है।

उदाहरण के लिए शकुन्तला के प्रति रति भाव के चलते शकुन्तला को देखकर दुष्यंत के मन में मोह, हर्ष, आवेग, आदि जो भाव उत्पन्न होंगे, वे संचारी भाव कहलाएँगे।

प्रश्न 3 : 'रस निष्पत्ति' संबंधी विभिन्न व्याख्याओं का वर्णन कीजिए।

अथवा

'रस निष्पत्ति' के संदर्भ में अभिव्यक्त विभिन्न आचार्यों के मतों का विश्लेषण कीजिए।

अथवा

'रस की प्रक्रिया' के संदर्भ में विभिन्न व्याख्याकार आचार्यों के विचार क्या हैं ? विस्तारपूर्वक समझाइए।

उत्तर – 'रस' की परिभाषा में जिन तत्त्वों को निर्देशित किया जाता है, उनमें विभाव, अनुभाव और संचारी भाव प्रमुख हैं। आचार्य भरतमुनि ने रस की प्रक्रिया के संबंध में उल्लेख करते हुए एक सूत्र दिया है –

'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रस निष्पतिः।'

अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरतमुनि के इस सूत्र में 'स्थायीभाव' का उल्लेख नहीं है। वस्तुतः आचार्य का तात्पर्य यह है कि विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव परस्पर सिद्ध होकर स्थायी भाव से संयुक्त होते हैं। इस संयुक्त होने की प्रक्रिया में स्थायीभाव से युक्त भावक का हृदय 'रस निष्पत्ति' का मूल आधार है। भरत प्रवर्तित सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' पद विवाद के विषय रहे हैं। भरत के परवर्ती आचार्यों भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने अपने–अपने दृष्टिकोणों के अनुसार इस सूत्र को विश्लेषित करने का प्रयास किया। इन्हें विस्तार से इस प्रकार समझा जा सकता है –

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद– आचार्य मम्मट ने लिखा है कि लोल्लट संयोग का अर्थ सम्बन्ध से लेते हैं। सम्बन्ध का तात्पर्य हुआ स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का संबंध। विभावों के चलते वासना रूप में स्थित स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विभाव उत्पादक है और स्थायी भाव उत्पाद्य। अनुभावों से ही स्थायी की प्रतीति होती है, यानी वह गम्य होता है। अतः अनुभाव गमक है और स्थायी है गम्य। व्यभिचारियों से स्थायी उपचित या परिपुष्ट होता है। यही कारण है कि व्यभिचारी पोषक और स्थायी पोष्य हुआ। विभाव आदि स्थायी को उपचित कर रस में रूपान्तरित कर देते हैं। उपचय या उपचिति एक संयुक्त प्रक्रिया है, जिसमें उत्पत्ति, प्रतीति और पुष्टि का अन्तर्भाव रहता है। इस प्रकार स्थायी उपचय है और विभावादि उपचायक।

निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है। लोल्लट ने 'निष्पत्ति' की व्याख्या नाट्य के संदर्भ में की। प्रश्न यह है कि स्थायी कहाँ स्थित होता है ? लोल्लट के अनुसार वह मूल नायक–नायिका या अनुकार्य में स्थित है। नट राम आदि के रूप का अनुसंधान करता है। अनुसंधान का अर्थ आरोप है अभिमान या योजन अर्थात् नट अपने ऊपर रामत्व आदि का आरोप करता है या यूँ कहें कि स्वयं को राम की भूमिका में मान लेता है या अपने के स्थान पर राम को ही समझ लेता है। सामाजिक या सहृदय को नट में रस की प्रतीति होती है। भरत के नाट्यशास्त्र का अभिप्राय यह है कि राम आदि के रस को नाट्य में प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार लोल्लट का मत भरत से अलग नहीं है। भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद को सारांशतः इस प्रकार समझा जा सकता है –

1) स्थायी भाव उपचित होकर रस में बदलता है।

2) रस व्यक्ति निष्ठ है – राम आदि का है। वेश–भूषा आदि के कारण सामाजिक नट की क्रियाओं को राम की क्रियाएँ समझ लेता है।

3) इसमें नट भी रस का आस्वाद लेता है, और

4) सामाजिक या सहृदय नाट्य प्रयोग में कहीं आता नहीं है। वह दूर से ही रस की प्रतीति करता है।

शंकुक का अनुमितिवाद– भट्टलोल्लट की स्थापनाओं से भट्ट शंकुक असहमत हैं। शंकुक मुख्यतः दो आपत्तियाँ उठाते हैं, पहली तो यह कि स्थायी भाव का पूर्वज्ञान स्वीकार नहीं किया जा सकता, दूसरी यह कि एक ही भाव अनुपचित अवस्था में स्थायी होता है और उपचित अवस्था में रस होता है, तार्किक नहीं है। शंकुक के मतानुसार स्थायी का ज्ञान तब तक नहीं होगा, जब तक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उसमें विभाव आदि का संयोग नहीं हो। भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में स्थायी के सघनता के स्तर होते हैं, तो क्या स्थायी के उपचित होने पर इसके भी स्तर होंगे ? यह शंकुक को स्वीकार नहीं है।

उनका कहना है विभाव आदि के संयोग से रति आदि स्थायी भाव का अनुभाव होता है। इस संयोग का स्वरूप है गम्य–गमक भाव। इनके अनुमितिवाद को कुछ आचार्य अनुमाप्य–अनुमापक संबंध की संज्ञा देते हैं। अनुमानित होने के बावजूद वस्तु सौन्दर्य विशेषता के कारण अनुमान में आस्वाद्यता आ जाती है। सामाजिक जिस स्थायी भाव का आस्वाद करता है वह नट में नहीं पाया जाता। यह अनुकार्य के स्थायी का अनुकरण है। अनुकरण होने के कारण ही इसे अलग संज्ञा दी जाती है – रस। स्थायी भाव का ज्ञान नट के अभिनय से होता है, काव्य के शब्दों से नहीं। यही कारण है कि आचार्य भरतमुनि ने स्थायी भाव का उल्लेख अपने रस–सूत्र में नहीं किया है, क्योंकि यह विभाव आदि से सम्बद्ध होकर अनुमित होता है। यह अनुमित स्थायी रामादिगत स्थायी की अनुकृति है। अनुकृत रति ही श्रृंगार रस है। अनुकरण से ही रस की निष्पत्ति होती है। नट आदि का अभिनय कृत्रिम होता है। अभिनय कौशल देखकर सुखद या संवादी भ्रम के चलते सामाजिक या सहृदय नट को नायक अनुमित कर लेता है। इस सुखद भ्रम को स्पष्ट करने के लिए शंकुक कहते हैं कि नट को अभिनय करते देखकर हमें ऐसा लगता है कि यह 'राम ही है'। ऐसा नहीं लगता कि यह ठीक–ठीक राम है। ऐसा प्रतीत होना असत्य नहीं है। नाटक जब तक जारी रहता है सहृदय इसी प्रतीति का अवगाहन करते रहते हैं। अपनी बात को और स्पष्ट करने के लिए शंकुक 'चित्रतुरगन्याय' पद का प्रयोग करते हैं। चित्र में बना घोड़ा, घोड़ा नहीं होता पर घोड़ा समझा जाता है। शंकुक के अभिप्रायों को सारांशतः इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है –

1) नटगत् अभिनय कृत्रिम होता है। यह बात अलग है कि सुखद भ्रम के कारण वह कृत्रिम नहीं लगता।

2) विभाव आदि के संयोग से स्थायी भाव अनुमित होता है। यह स्थायी राम आदि (अनुकार्य) के स्थायी भाव का अनुकरण होता है।

3) अनुकरण की विशेषता के कारण ही स्थायी भाव रस रूप में रूपान्तरित होता है।

4) नट में रामत्व का अनुभव चित्रतुरगन्याय से होता है। अतः यह कलात्मक परिणति है, जो विलक्षण है।

भट्टतौत का अनुव्यवसाय सिद्धान्त– अभिनवगुप्त के गुरू भट्टतौत ने शंकुक के अनुकरण सिद्धान्त का खंडन किया। उनके अनुसार रस का अनुकरण नहीं होता अपितु उसका अनुव्यवसाय होता है। वे आगे प्रश्न उठाते हुए कहते हैं अनुकरण न तो दर्शक की दृष्टि से सिद्ध होता है, न नट की दृष्टि से और न ही विवेचक की दृष्टि से। वे यह भी कहते हैं कि आखिर नट में कौन सी ऐसी वस्तु दिखायी देती है, जिससे रति आदि का अनुकरण सिद्ध होता है ? नट की वेश–भूषा, वाचिक अभिनय, चेष्टाएँ आदि तो बाहरी क्रियाएँ हैं। इन्हें चित्रवृत्तियों का अनुकरण कहना उचित नहीं। वस्तुतः नट में जो व्यापार दिखायी देते हैं वे चक्षुग्राह्य हैं, जबकि चित्रवृत्तियाँ मनोग्राह्य हैं। अतः पहले को दूसरे का अनुकरण नहीं माना जा सकता। उन्होंने दूसरा तर्क यह दिया कि यदि मान लिया जाय कि नट जो करता है वह अनुकरण है तो इसके लिए ज़रूरी होगा कि जिसका वह अनुकरण कर रहा है, उसकी जानकारी भी हमें हो, लेकिन राम आदि की रति की जानकारी किसे है ? नट में रतिगत अनुभावों को देखकर दर्शक उसे रतिगत अनुभाव के रूप में लेगा, रति के अनुकरण के रूप में नहीं।

वे आगे कहते हैं, मूल व्यक्ति के रति आदि को न जानने के कारण नट उनका अनुकरण नहीं कर सकता। विवेचक की दृष्टि से भी अनुकरण सिद्ध नहीं होता, क्योंकि भरत ने कहीं भी नहीं कहा है कि 'स्थायी का अनुकरण रस है।'

वे इस पूरी प्रक्रिया का विश्लेषण 'अनुव्यवसाय' पद के माध्यम से करते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं, नट व्यक्ति विशेष का अनुकरण नहीं करता, अपितु उसकी सामान्य अवस्थाओं का, उदात्तता आदि का अनुकरण करता है और उसकी लौकिक सम्बद्धता का तिरोभाव हो जाता है। उदात्तता आदि तत्त्व नट में पहले से ही उपस्थित रहते हैं। प्रेक्षक जब इस प्रभावी और आकर्षक नाट्य को देखता है तो अपने संस्कारों की सहायता से, सुख–दुख आदि रूप में चित्रित अपनी चित्तवृत्ति के साक्षात् द्वारा आनन्द का अनुभव करता है। यह प्रक्रिया ही अनुव्यवसाय है।

भट्टनायक का भुक्ति सिद्धान्त– रस सूत्र के अगले व्याख्याता हैं – भट्टनायक। उनका मानना है कि रस न उत्पन्न होता है, न अनुमित होता है और न ही अभिव्यक्त। उन्होंने लोल्लट के उत्पत्तिवाद और अनुमितिवाद का खण्डन तो किया ही, आनन्दवर्धन के ध्वनि और व्यंजना सिद्धान्त के प्रति असहमति के कारण अभिव्यक्ति सिद्धान्त का भी विरोध किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उनकी स्थापना है कि रस का भोग होता है। इसके लिए उन्होंने तीन काव्य–व्यापारों की कल्पना की – अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा शब्द का सामान्य व्यापार है। लेकिन काव्यगत शब्दों एवं काव्य से अलग साहित्य में प्रयुक्त शब्दों के कार्य अलग–अलग ढंग के होते हैं। काव्यगत शब्द में केवल वाच्यार्थ नहीं रहता। रस की दृष्टि से उसमें भावकत्व या भावना व्यापार रहता है। सहृदय की दृष्टि से उसमें भोगीकरण का व्यापार रहता है, जिससे सहृदय उसे भोगीकृत रूप में आस्वादन कर सके। काव्यगत अभिधा में रस भावना रहती है।

'भावना' के बारे में उनकी टिप्पणी है, शब्दों का एक विशिष्ट व्यापार होता है – विभाव आदि का साधारणीकरण। विभाव आदि का साधारणीकरण काव्यगत निर्दोषता, गुणालंकार एवं नाट्यगत अभिनय के चलते होता है। काव्यगत शब्दों में निहित इस साधारणीकरण के व्यापार को ही भावना कहते हैं।

विभाव आदि के साधारणीकरण से रस भावित होता है। रस भावित होकर विशेष रूप से साक्षातीकृत होता है, इसी को भोग कहते हैं। इस तरह रस आस्वाद्य है, आस्वाद रूप नहीं है। सत्त्वगुण का उद्रेक भोगीकरण की अवस्था में होता है। निष्पत्ति का अर्थ हुआ भावित होना या भाविति। विभाव आदि के साथ संयोग होने पर स्थायी भाव भावित होकर रस रूप में परिणत हो जाता है, इसे ही 'रस–निष्पत्ति' कहते हैं। उनकी विवेचना के अभिप्राय को ऐसे समझा जा सकता है –

1) रसास्वादन के लिए विभाव आदि का साधारणीकरण होना चाहिए।
2) रसास्वादन व्यापार में रसिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह आस्वादक है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद–भट्टनायक के भुक्तिवाद से अभिनवगुप्त असहमत हैं। वे अपने सिद्धान्त को 'अभिव्यक्तिवाद' कहते हैं। उनके मत के अनुसार, 'सर्वथा रसात्मक तथा वीतविघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है।' उनके पहले रस को आस्वाद्य माना गया था अर्थात् वस्तुनिष्ठ माना गया था। लेकिन अभिनवगुप्त उसे आस्वादरूप या व्यक्तिनिष्ठ मानते हैं। उनके अनुसार रस और रस भोग को अलग मानना औचित्यपूर्ण नहीं है। दोनों में अभेद है। जो रस है, वही रसभोग है। भट्टनायक ने रस प्रतीति के प्रति असहमति प्रकट की और भुक्ति का समर्थन किया, पर अभिनवगुप्त दोनों में अभेद नहीं मानते। प्रतीति ही भुक्ति है।

वे ध्वनि में ही भावकत्व और भोगीकरण के व्यापार को अन्तर्भुक्त कर देते हैं, उनके अनुसार रसास्वादन के समय सहृदय देशकाल, स्व–पर, व्यक्तिगत राग–द्वेष से मुक्त होकर एक विशेष प्रकार के आनन्द की प्रतीति करता है। इस प्रतीति का धरातल 'साधारणीकरण' है। रस का स्थान सहृदय का चित्त है। संस्कार रूप से उपस्थित स्थायी भाव का जो काव्य में अभिव्यक्त या प्रतीयमान होता है, उसका वह आस्वादन करता है। रस ब्रह्मानंद सहोदर है।

रसवादी आलोचक डॉ. नगेन्द्र अभिनव की व्याख्या पर टिप्पणी करते हैं, 'अभिनव के रस विवेचन की एक प्रमुख सिद्धि है समष्टिगत रस की प्रकल्पना। अभिनव का दर्शन मूलतः व्यक्तिवादी है, लेकिन उन्होंने रस चक्र की पूर्णता अन्ततः सामूहिक रस चेतना में ही सिद्ध की है। जिस सामाजिक कलानुभूति की स्थापना आधुनिक युग में साम्यवाद अथवा समाजवाद के प्रभाव द्वारा हुयी है, अभिनव ने अपने ढंग से उसका अपूर्व व्याख्यान किया है।'

प्रश्न 4 : साधारणीकरण क्या है ? साधारणीकरण के संबंध में विभिन्न आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत मतों की विवेचना कीजिए।

उत्तर– 'रस सिद्धान्त' की अवधारणा में 'साधारणीकरण' पद को केन्द्रीय महत्त्व प्राप्त है। सबसे पहले इसका प्रयोग दसवीं शताब्दी में भट्टनायक ने 'रस निष्पत्ति' सम्बन्धी आचार्य भरतमुनि के सूत्र की व्याख्या के अंतर्गत् किया। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की व्याख्या में उपस्थित दोषों के परिहार के लिए इसका प्रयोग किया। उनके अनुसार आरोपवाद और अनुमितिवाद की स्थापनाओं में जो तटस्थता और आत्मगत दोष आ जाते हैं, उनके निराकरण के लिए 'साधारणीकरण' की स्वीकृति आवश्यक है। जब पाठक अथवा दर्शक काव्य अथवा नाटक के अभिधापरक अर्थ को ग्रहण कर लेता है, तब उसके हृदय में भावकत्व शक्ति के द्वारा सत्त्व की प्रधानता हो जाती है। इस स्थिति में उसके अंतस में स्थित 'मैं' और 'पर' का द्वैध मिट जाता है। अपनी स्थिति विशेष के तिरोभाव के बाद ही वह प्रदर्शित अथवा वर्णित घटना या पात्र को स्वीकार करता है। वह प्रदर्शित, वर्णित घटनाओं और पात्रों को अपने व्यक्तिगत रूप से सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध भी नहीं समझता है। इस स्थिति विशेष में सहृदय भोजकत्व शक्ति के द्वारा उद्बुध भावों का रसास्वादन करता है। उनके अनुसार यह परिस्थिति विशेष जिस व्यापार के कारण संभव होती है, वहीं 'साधारणीकरण' है। इस प्रकार वे रसनिष्पत्ति के लिए 'साधारणीकरण' को आवश्यक शर्त मानते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भट्टनायक के शिष्य अभिनवगुप्त (10 वीं– 11 वीं शताब्दी ई.) ने अपने गुरु द्वारा प्रवर्तित भावकत्व और भोजकत्व शक्तियों के सिद्धान्त को अस्वीकार तो किया, लेकिन 'साधारणीकरण' को स्वीकार किया।' अभिनव गुप्त की व्याख्या में पाण्डित्यपूर्ण विश्लेषण की अपूर्व सामर्थ्य है। यही कारण है कि इनकी व्याख्याएँ गहन ही नहीं पूर्ण भी हैं। उनके अनुसार, साधारणीकरण के दो स्तर हैं – एक स्तर पर विभाव आदि का व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाता दूसरे स्तर पर सामाजिक का व्यक्तित्व बन्धन नष्ट हो जाता है अर्थात् विभाव आदि के साथ स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है। इस साधारणीकरण का स्वरूप सामाजिकों के वासनारूप में स्थित स्थायी भावों के आधार पर ही निर्मित होता है। इस प्रकार भट्टनायक के सिद्धान्त (साधारणीकरण) को स्वीकार कर भी उसमें अपने मौलिक योगदान को उन्होंने जोड़ा है। उन्होंने वासना को स्वीकृति दी है, साथ ही स्थायी भाव के साधारणीकरण को भी माना है।

अभिनवगुप्त के बाद आचार्य विश्वनाथ (14 वीं शताब्दी ई.) और जगन्नाथ (16 वी, 18 वीं शताब्दी ई.) ने भी साधारणीकरण पद को विश्लेषित करने का प्रयास किया, लेकिन वे अनेक असंगतियों और भटकाव के शिकार हैं।

आधुनिक साहित्यिक परंपरा के विचारकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'साधारणीकरण के सिद्धान्त की सबसे अधिक व्यापक और विशद् व्याख्या प्रस्तुत की है। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (चिन्तामणि, भाग–1)** के अनुसार, **'जब तक किसी भाव का कोई विशेषत्व इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्वेलन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आता है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन हो जाता है। साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है तात्पर्य यह है कि आलम्बनरूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।'** रामचन्द्र शुक्ल की उल्लिखित स्थापनाओं से दो मुख्य बातें प्रकट होती हैं –

1) वर्णित अथवा प्रदर्शित आलम्बन को सबके भाव का आलम्बन बनाना, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति विशेष अथवा वस्तु विशेष के स्थान पर केवल वस्तु अथवा व्यक्ति मात्र का बोध रह जाता है।

2) आश्रय के ही समान आलम्बन के प्रति पाठक या दर्शक का भाव हो जाना।

आचार्य शुक्ल के 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त की अनेक आधुनिक विचारकों ने आलोचना की है। ऐसे आलोचकों में रामदहिन मिश्र, श्यामसुंदर दास, नगेन्द्र आदि प्रमुख हैं। रामदहिन मिश्र ने 'काव्य दर्शन' में विभाव आदि के साधारणीकरण को केवल आलम्बनत्व धर्म में सीमित किए जाने पर आपत्ति प्रकट की है। रस कोटियों के विभाजन को वे रस की प्रकृति के विरूद्ध कहते हैं। साथ ही वे साधारणीकरण तथा तादात्म्य को एक ही अर्थ में प्रयोग भ्रामक मानते हैं। श्यामसुंदर दास (साहित्यालोचन) की टिप्पणी इस प्रकार है, 'रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण से यह अर्थ लिया है कि विभावानुभाव का साधारण रूप करके लाया जाना। पर साधारणीकरण तो कवि या भावक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के साधारणीकरण होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। अतः यह मत भी ठीक नहीं। रीति काव्य की भूमिका में डॉ. नगेन्द्र कहते हैं, आश्रय के साथ तादात्म्य की स्वीकृति उचित नहीं। उनके अनुसार यह अत्यन्त कठिन है कि पाठक या दर्शक प्रत्येक प्रकार के चरित्र के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके। वास्तव में पाठक का तादात्म्य कवि के भाव के साथ होता है और इस प्रकार आश्रयगत भावों के औचित्य के प्रश्न का समाधान भी हो जाता है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, आश्रयरूप रावण यदि कहीं राम की भर्त्सना करता है, तो क्या हुआ? हमारी सहानुभूति में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि हमारे अन्तर में तो वही अनुमिति जगेगी, जो कवि ने प्रतीक द्वारा व्यक्त की है।

प्रगतिवादी आलोचकों ने साधारणीकरण का अर्थ परम्परा से थोड़ा विलग होकर सामान्य प्रेषणीयता से जोड़ा है। वे इसके अर्थ का विस्तार कर बोधगम्यता से संबद्ध कर देते हैं। आनन्द प्रकाश दीक्षित ने इन सब मतों के परीक्षण के बाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत को ही सही ठहराया है। वे आलम्बन के साथ आश्रय की स्वीकृति को सही मानते हैं। साधारणीकरण तथा तादात्म्य को एक साथ प्रयुक्त करने में भी उन्हें कोई संशय नहीं। वे नगेन्द्र के मत पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं – 'यहाँ कवि कर्म के सम्मुख प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित प्रेक्षक अथवा सहृदयमात्र के संस्कारों को दृष्टि से ओझल कर दिया गया है .... कवि ने कथा के संयोजन में इतनी स्वतंत्रता से काम लिया कि वह सहृदय के संस्कारों के विरूद्ध जा पड़ी, तो सहृदय को रसास्वाद तो न होगा, कुतूहल भले ही हो।' उन्होंने अपने मत की तार्किकता का समापन इस प्रकार किया है, 'यदि सहृदय के संस्कारों का ध्यान रखते हुए कवि कर्म की प्रतिष्ठा की जाय, तो आलम्बन का औचित्य घटित होने से आप–से–आप आश्रय का औचित्य सिद्ध हो जाता है और परिणामस्वरूप पाठक के भाव से आश्रय के भाव का तादात्म्य हो जाता है। अतः शुक्ल जी का मत ही समीचीन है।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.7 लघु उत्तरीय प्रश्न –

प्रश्न 1– रस क्या है ? इसके प्रमुख तत्त्वों की विवेचना कीजिए।

उत्तर– 'रस' पद का सम्बन्ध भाव से माना जाता है। वस्तुतः भाव ही 'रसदशा' को प्राप्त होते हैं। सामान्य रूप से काव्य के पढ़ने, नाटक आदि के देखने एवं कथाओं के श्रवण आदि से मन को जो प्रसन्नता मिलती है, या आनन्द प्राप्त होता है उसे ही 'रस' कहते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यों ने इसे परिभाषित करने की चेष्टा की है। रस से सम्बन्धित सम्पूर्ण तत्त्वों के दो पक्ष हैं – 1) कृति, और 2) सहृदय।

1) कृति–'रस' की दृष्टि से 'कृति' या रचना का अर्थ पुस्तक रूप से नहीं है। रस की दृष्टि से कृति का अर्थ है, उसमें प्रतिपादित विषय वस्तु अर्थात् कल्पना, काव्यभाषा तथा कवि के अनुभव द्वारा सृजित कृति का पाठ और विषय। रस की दृष्टि से विषय को तीन भागों में बाँटा जाता है– क) विभाव ख) अनुभाव, और ग) संचारी भाव।

2) सहृदय– सहृदय को ही रसज्ञ, भावक या पाठक कहा जाता है। निरन्तर साहित्य या काव्य के अध्ययन, अनुशीलन से जिसकी प्रज्ञाशक्ति (समझ) अत्यधिक विकसित हो, दूसरे शब्दों में काव्य के अर्थ को सही समझने वाला, काव्य में अर्थ के बोध से सम्बन्धित अवान्तर प्रसंगों और शास्त्रों का ज्ञाता, प्रकृत तथा सरस वृत्ति प्रधान व्यक्ति ही सहृदय या पाठक है।

इस प्रकार पाठक, सामाजिक या सहृदय का मन कृति में कल्पित विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव के सम्पर्क में आकर जिस भाव से आह्लादित होता है, उसे ही 'रस' की संज्ञा दी जाती है। अभिनव गुप्त प्रवर्तित रस की परिभाषा सर्वाधिक उपयुक्त है –

'सर्वथा रसनात्मक वीतविघ्न प्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः।'

अर्थात् **'सब प्रकार से रसात्मक, वीतविघ्न और प्रतीतिग्राह्य भाव ही 'रस'** है। यहाँ वीतविघ्न का अर्थ है रस की प्रतीति कराने वाले विघ्नों से मुक्त होना।

प्रश्न 2– 'रस की प्रक्रिया के संदर्भ में अभिव्यक्त विभिन्न आचार्यों के मत का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में रस की प्रक्रिया पर एक श्लोक का सृजन किया–

'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।'

अर्थात् स्थायी भाव से विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। हालाँकि इस सूत्र में स्थायीभाव का उल्लेख नहीं है। वस्तुतः विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव परस्पर सिद्ध होकर स्थायी भाव से संयुक्त होते हैं। संयुक्त होने की प्रक्रिया में स्थायी भाव से युक्त भावक का हृदय ही रस निष्पत्ति का मूल आधार है। आचार्य भरत ने 'सूत्र' रूप में अपने सिद्धान्त को प्रकट किया था, साथ ही स्थायी भाव का भी उन्होंने 'रससूत्र' में उल्लेख नहीं किया। यही कारण है कि भरत के परवर्ती आचार्यों ने रस सूत्र की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की। इनमें चार आचार्यों का स्थान प्रमुख है – भट्टलोल्लट, आचार्य शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त। रस निष्पत्ति संबंधी इनके विश्लेषणों को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है –

1) भट्टलोल्लट– भट्टलोल्लट का विचार है कि भाव, अनुभाव एवं संचारी भाव कारण के रूप में है, और रस कार्य या परिणाम है। इस प्रकार विभाव आदि एवं रस के बीच कार्य कारण का सिद्धान्त है।

2) आचार्य शंकुक– आचार्य शंकुक का विचार है कि विभाव, अनुभाव एवं संचारी में अनुभाव का संस्थापन करके रस का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार विभाव आदि एवं रस के बीच अनुमेय–अनुमान का संबंध है।

3) भट्टनायक– भट्टनायक का विचार है कि विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव के माध्यम से काव्य की समझ तथा भाव का आस्वादन करते हुए रस का भोग किया जाता है। इस प्रकार विभाव आदि एवं रस के बीच भोज्य–भोजक सम्बन्ध है।

4) अभिनवगुप्त– इनका विचार है कि विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव का सहृदय के स्थायी भाव से सम्बन्ध होने पर रस स्वतः व्यक्त हो उठता है। अभिनव गुप्त के अनुसार विभाव आदि एवं स्थायी भाव में व्यंग्य–व्यंजक सम्बन्ध है। स्थायी भाव के सम्पर्क में आने पर व्यंजित होने वाला तत्त्व ही 'रस' कहलाता है।

प्रश्न 3– रस के कौन–कौन से अवयव हैं ? भाव क्या है ?

उत्तर– विभाव, अनुभाव और संचारी भाव को ही रस का अवयव कहते हैं। इनका संबंध स्थायीभाव से होता है। विभाव,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनुभाव एवं संचारी भाव का मूलाधार भाव है। यह भाव आधुनिक युग के 'फीलिंग' (Feeling) का पर्याय नहीं है। भाव का संबंध कवि–कल्पना से है। उदाहरण के लिए, 'रामचरितमानस' में कवि कल्पना के द्वारा एक कथा का निर्माण स्वदृष्टिकोण के अनुसार करता है। उसके राम और सीता से सम्बन्धित विविध प्रकार की घटनाएँ एवं उन घटनाओं से संबद्ध सुख–दुख आदि रूप अनेक भाव–व्यापक कवि कल्पना की सृष्टि है। कवि कल्पना प्रसूत वर्ण्यवस्तु से संबद्ध सुख–दुःखादि रूप भाव ही रस में स्वीकृत 'भाव व्यापार' हैं। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में इस संदर्भ में विचार करते हुए कहा –

'किं भवन्ति इति भावा, किं भावयन्ति इति भावा ।
उच्यते वागंग सत्त्वोपेतान् काव्यर्थान भावयन्ति इति भावा ।।'

अर्थात् क्या लोक में घटित होने वाले भाव भाव हैं, या जो काव्य आदि में भावित होते हैं, वे भाव हैं ? नाटक आदि में वाणी व्यापार, अंग संचालन और सात्त्विक अनुभावों से संयुक्त भाव के रूप में भावित होने वाले भाव–व्यापार ही भाव कहे गए हैं । नाटककार अथवा कवि जिन प्राकृत गाथाओं को आधार बनाकर प्रस्तुत करते हैं, उनसे सम्बद्ध भाव काव्य के अंतर्गत् विभाव के रूप में सामाजिक या पाठक के सामने आते हैं। लोकभाव से अनुप्राणित होने के बावजूद इसके निर्माण में कवि या नाटककार की कल्पना शक्ति की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

प्रश्न 4– स्थायी भाव क्या है ? विभिन्न स्थायी भावों और उनके रसरूप का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– स्थायी भाव रस निरूपण में एक शास्त्रीय श्रेणी है। उसका निरूपण रस की दृष्टि से किया गया है। 'रस सिद्धान्त' में स्थायी भाव का तात्पर्य 'प्रधान भाव' है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्थायी भाव को परिभाषित करते हुए कहा,

'प्रधान (प्रचलित प्रयोग के अनुसार स्थायी) भाव वही कहा जा सकता है जो रस की अवस्था तक पहुँचे।'

यानी अनुभाव और संचारी भाव रस दशा तक नहीं पहुँच्ते हैं। अनुभाव और संचारी किसी–न–किसी भाव को पुष्ट करते हैं और वही भाव पूर्ण रस दशा को प्राप्त करता है। स्थायी भावो की संख्या 8, 9 या 10 मानी गयी है। इसका अर्थ यह हुआ कि 8, 9 या 10 भाव अपनी प्रधानता के कारण स्थायी भाव माने जाते हैं, अपने स्थायित्व के कारण नहीं।

प्रचलित परंपरा के अनुसार स्थायी भावों की संख्या नौ ही है. लेकिन कतिपय विद्वान इसकी संख्या आठ और दस भी मानते हैं । स्थायी भाव और उनके 'स्वरुप' का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है –:

स्थायी भाव	**रस रुप**
रति भाव	श्रृंगार रस
हास भाव	हास्य रस
शोक भाव	करुण रस
क्रोध भाव	रौद्र रस
उत्साह भाव	वीर रस
भय भाव	भयानक रस
जुगुप्सा भाव	वीभत्स रस
विस्मय भाव	अद्भुत रस
निर्वेद भाव	शान्त रस
वत्सल	वात्सल्य रस।

प्रश्न 4– विभाव क्या है ? इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– 'भाव' के जो कारण होते हैं, उन्हें 'विभाव' कहते हैं। विभाव की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है, 'विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं और विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है।' आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में विभाव को स्पष्ट करते हुए कहा है,

'विभावैराहृतो योऽर्थो।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अर्थात् अर्थ प्रतीति का मूल कारण ही विभाव है। विभाव के दो प्रकार होते हैं – क) आलम्बन विभाव, और ख) उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव– भाव एवं रस के मूल हेतु को 'आलम्बन विभाव' कहते हैं। अर्थात् भाव जिन वस्तुओं या विषयों पर आलंबित होकर उत्पन्न होते हैं, उसे आलम्बन विभाव कहा जाता है। उदाहरण के लिए – नायक–नायिका। आचार्यों ने इसे दो भागों में विभाजित किया है – क) आश्रय, और ख) विषय ।

क) आश्रय– जिस व्यक्ति के मन में रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं, उसे आश्रय कहते हैं।

ख) विषय– जिस व्यक्ति या वस्तु के लिए आश्रय के मन में भाव उत्पन्न होते हैं, उसे विषय कहते हैं। जैसे– यदि नायक को देखकर नायिका के हृदय में प्रीतिभाव का संचार हो तो नायक विषय है, नायिका आश्रय। यदि स्थिति इसके विपरीत हो तो नायिका विषय एवं नायक आश्रय होगा। एक काव्य उदाहरण के द्वारा इसे और स्पष्टता से देखा जा सकता है :–

'कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहूँ मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा विस्व विजय चह कीन्हीं।।'

सीता के अंगाश्रित आभूषणों के अनुरणन को सुनकर 'राम' में प्रीति भाव जगता है, इसलिए राम आश्रय गत आलम्बन विभाव है और सीता विषयगत आलम्बन विभाव।

उद्दीपन विभाव– आश्रय के मन में भाव को उद्दीप्त करने वाले विषय की बाह्य चेष्टाओं और बाहरी वातावरण को उद्दीपन विभाव कहते हैं। उदाहरण के लिए 'राम तथा सीता' सम्बद्ध वाटिका प्रसंग में उद्दीपन इस प्रकार हैं :–

'भूप बाग बर देखउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लुभाई ।।
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत विहग नटत कल मोरा ।।'

उल्लिखित पंक्तियों में वर्णित प्रसंग में बसंत ऋतु, चातक, कोकिल, कीर, चकोर आदि पक्षियों का कूजन एवं मयूर का विलास कौतुक आदि राम की रति के लिए उद्दीपन हैं।

प्रश्न 5 अनुगाव क्या है ? उन्हें कितने गागों में विगक्त किया जाता है ?

उत्तर– आचार्य भरतमुनि ने 'अनुभाव' के बारे में 'नाट्यशास्त्र' में कहा है –

'अनुभावैस्तु गम्यते।'

अर्थात् अनुभाव के द्वारा भाव व्यापार प्रतीति का विषय बनता है। अनुभाव के संदर्भ में वे आगे उल्लेख करते हैं –

'वागंगाभिनयेनेह यतस्तर्थोऽनुभाव्यते। शाखांगोपागं संयुक्तुस्तु अनुभावः ततः स्मृतः।।'

तात्पर्य यह हुआ कि जो भावों के पश्चात् आते हैं, वे अनुभाव हैं। वाणी, अंग संचालन आदि के अभिनय स्वरुप रस का अनुभावन कराने वाले भाव अनुभाव कहे जाते हैं।

वस्तुतः जहाँ विषय की बाहरी चेष्टाओं को उद्दीपन कहा जाता है वहीं आश्रय के शरीर विकारों को अनुभाव कहते हैं। अनुभाव हमेशा आश्रय से सम्बन्धित होते हैं। सामान्यतया अनुभावों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है – 1) कायिक 2) वाचिक और 3) सात्त्विक।

कायिक अनुभाव– नायक आदि का किसी भाव व्यापार के वशीभूत होने पर शरीर के विविध अंग–प्रत्यंगों की सहज चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहा जाता है। जैसे– भौंहों का कुटिल होना, होठों का फड़कना आदि।

वाचिक अनुभाव– काव्य में नाटक आदि का किसी भव व्यापार के वशीभूत होकर वाणी द्वारा उसकी अभिव्यक्ति को वाचिक अनुभाव कहते हैं।

सात्त्विक अनुभाव– भाव के संसूचनात्मक विकार रुप सात्त्विक अनुभाव कहे जाते हैं। सत्त्व का सम्बन्ध मन है। स्थिति विशेष में मानसी प्रभाव का शरीर के अगों पर अभिव्यक्त संवेगात्मक प्रभाव ही सात्त्विक अनुभाव है। इनकी संख्या आठ बतायी गयी है – कम्प, स्तम्भ, रोमांच, स्वरभेद, अश्रु, मूर्च्छा, स्वेद, विवर्णता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 6– संचारी भाव और व्यभिचारी भाव संज्ञा का अर्थ प्रकट कीजिए। इनकी संख्या कितनी है ? नाम सहित उल्लेख कीजिए।

उत्तर– मन के चंचल विकारों को संचारी भाव कहते हैं, यह आश्रय के मन में उत्पन्न होता है। भरतमुनि ने इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहा है। उनके अनुसार– वि+अभि+चारी (चर् धातु) से निष्पन्न व्यभिचारी शब्द का अर्थ है– विविध प्रकार से रसाभिमुख होकर विचरण करने वाले भाव। चूँकि ये रसाभिमुख होकर संचरण करते हैं, इसलिए इन्हें संचारी भी कहा जाता है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में –:

'विविधाभाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।'

संचारी भावों को 'व्यभिचारी भाव' भी कहते हैं। इसका पहला कारण यह है कि एक ही संचारी भाव अनेक रसों के साथ हो सकता है। दूसरा कारण यह है कि वह पानी के बुलबुले की तरह उठता और शांत होता रहता है।

संचारी भावों की संख्या तैंतीस बतायी गयी है –: निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, ब्रीडा, चंचलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क। इन्हें तीन भागों में विभक्त किया जाता है :– आत्मगत, परगत और मध्यस्थ।

प्रश्न 7– भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद क्या है ?

उत्तर– भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रस सूत्र दिया –

'विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस की निष्पति होती है। इस सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' और 'निष्पत्ति' विवाद के विषय रहे हैं। विभिन्न आचार्यों ने भरतमुनि के सूत्र की व्याख्या अपने–अपने ढंग से की है। भट्टलोल्लट ने सबसे पहले भरतमुनि के सूत्र पर विचार किया। उनके सिद्धान्त को 'उत्पत्तिवाद' कहते हैं। भट्टलोल्लट संयोग का अर्थ सम्बन्ध से लेते हैं। अर्थात् स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का सम्बन्ध। विभावों के कारण वासनारूप में स्थित स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है। विभाव उत्पादक है और स्थायी भाव उत्पाद्य। अनुभावों से स्थायी की प्रतीति होती है यानी वह गम्य होता है। अतः अनुभाव गमक है और स्थायी गम्य। व्यभिचारियों से स्थायी उपचित या परिपुष्ट होता है। इसलिए व्यभिचारी पोषक हुआ और स्थायी पोष्य। विभाव आदि स्थायी को उपचित कर रस में बदल देते हैं। एक संयुक्त प्रक्रिया उपचय या उपचिति के अंतर्गत् उत्पत्ति, प्रतीति और पुष्टि का अन्तर्भाव रहता है। अर्थात् स्थायी उपचय है और विभावादि उपचायक।

निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति हुआ। लोल्लट ने निष्पत्ति की व्याख्या नाट्य के संदर्भ में की है। लोल्लट के अनुसार स्थायी मूल नायक–नायिका या अनुकार्य में रहता है। नट राम आदि के रूप का अनुसंधान करता है। अनुसंधान का तात्पर्य है– आरोप, अभिमान अथवा योजन। अर्थात् नट अपने ऊपर राम आदि का आरोप करता है या स्वयं को उनकी भूमिका में मान लेता है या यूँ कहें की अपनेपन के स्थान पर राम को मान लेता है। इस प्रक्रिया के कारण सामाजिक को नट में रस की उपस्थिति का अनुभव होता है। भट्टलोल्लट की स्थापनाओं को निष्कर्षतः इस प्रकार समझा जा सकता है :–

1) स्थायी भाव उपचित होकर रस में परिणत होता है।

2) रस व्यक्तिनिष्ठ है– राम आदि का है। वेश–भूषा के कारण सामाजिक नट की क्रियाओं को राम की क्रियाएँ समझ लेता है।

3) इसमें नट भी रस का आस्वाद लेता है।

4) सामाजिक नाट्य प्रयोग में कहीं नहीं आता है। वह दूर से ही रस की प्रतीति करता है।

प्रश्न 8– शंकुक के 'अनुमितिवाद' पर विचार कीजिए। 'चित्रतुरग न्याय' क्या है ?

उत्तर– आचार्य शंकुक भट्ट लोल्लट के विश्लेषण (भरतमुनि के रससूत्र के संदर्भ में) असहमत हैं। मुख्य रुप से उनकी दो असहमतियाँ हैं :– एक तो यह कि स्थायी का पूर्वज्ञान स्वीकार नहीं किया जा सकता, दूसरी यह कि एक ही भाव अनुपचित अवस्था में स्थायी होता है और उपचित अवस्था में रस होता है, तर्कसंगत नहीं है। उन्होंने इस संदर्भ में अपने विश्लेषण को प्रकट किया, जिसे 'अनुमितिवाद' कहते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आचार्य शंकुक के अनुसार, 'विभाव आदि के संयोग से रत्यादि स्थायी का अनुमान होता है। इस संयोग का स्वरूप गम्य–गमक भाव होता है। कतिपय आलोचक इसे अनुमाप्य–अनुमापक संबंध भी कहते हैं। अनुमानित होने पर भी वस्तु सौन्दर्य के बल पर अनुमान में आस्वाद्यता आ जाती है। सामाजिक जिस स्थायी का आस्वाद करते हैं, वह नट में नहीं पाया जाता। यह वस्तुतः अनुकार्य के स्थायी का अनुकरण है। अनुकरण के कारण ही इसे अलग संज्ञा से पुकारा जाता है – स्थायी। स्थायी भाव का ज्ञान नट के अनुभव से होता है, काव्य शब्दों से नहीं। शंकुक के अनुसार, इसी कारण भरतमुनि ने स्थायी का उल्लेख अपने रस–सूत्र में नहीं किया है। यह विभाव आदि से सम्बद्ध होकर अनुमित होता है। यह अनुमित स्थायी रामादिगत स्थायी की अनुकृति है। जैसे–अनुकृत रति ही श्रृंगार रस है। अनुकरण से ही रस की निष्पत्ति होती है। नट का अभिनय कृत्रिम होता है। अभिनय कौशल के कारण सुखद या संवादी भ्रम की रचना होती है और सामाजिक नट में नायक अनुमित कर लेता है।

इस सुखद भ्रम की व्याख्या के संदर्भ में वे 'चित्रतुरग न्याय' पद का उल्लेख करते हैं। शंकुक के अनुसार नट का अभिनय देखकर हमें प्रतीत होता है कि 'यह राम ही है' (यह ठीक–ठीक राम है, यह प्रतीत नहीं होता)। यह प्रतीत होना मिथ्या नहीं है। नाटक समाप्त होने तक यह प्रतीति बनी रहती है। ठीक वैसे ही जैसे सीपी को देखकर चाँदी की प्रतीति होती है, लेकिन बाद में वह मिथ्या साबित होती है। इसे और स्पष्ट करने के लिए वे 'चित्रतुरग न्याय' का वर्णन करते हैं। चित्र में बना घोड़ा, घोड़ा नहीं होता, पर घोड़ा ही समझा जाता है।

प्रश्न 9– भट्टनायक के 'भुक्ति सिद्धान्त' का विश्लेषण करते हुए, 'साधारणीकरण' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– भट्टनायक का 'भुक्ति सिद्धान्त' आचार्य भरतमुनि के रस सूत्र की व्याख्या के संदर्भ में आया। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टतौत का खंडन करते हुए कहा रस न उत्पन्न होता, न अनुमित होता है और न ही अभिव्यक्त। उन्होंने आनंदवर्धन के ध्वनि और व्यंजना सिद्धान्त का भी खंडन किया। भट्टनायक के अनुसार रस का भोग होता है। इस संदर्भ में उन्होंने तीन काव्य व्यापारों की कल्पना की – अभिधा, भावकत्त्व और भोजकत्त्व।

अभिधा के संदर्भ में उन्होंने कहा, यह शब्द का सामान्य व्यापार है, जबकि साहित्य में प्रयुक्त शब्दों के कार्य अलग–अलग होते हैं। काव्यगत शब्द में वाच्यार्थ नहीं, भावकत्त्व या भावना का व्यापार रहता है। सहृदय की दृष्टि से उसमें भोगीकरण का व्यापार रहता है, जिससे सहृदय उसे भोगीकृत रूप में आस्वादन कर सके। काव्यगत अभिधा में 'रसभावना' निहित होती है। भावकत्त्व व्यापार द्वारा सामाजिक शब्दार्थ द्वारा प्राप्त बोध का 'भावन' करता है। भावन शब्द के अर्थ पर डॉ. नगेन्द्र की टिप्पणी है, 'भावन का अर्थ 'कलात्मक प्रतीति' है, जो 'साधारणीकरण' का ही स्थानापन्न है। इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार, भरतसूत्र का अर्थ हुआ–

'विभाव अनुभाव और संचारी भावों से भोज्य–भोजक भाव द्वारा रस की भुक्ति होती है।'

भट्टनायक के सिद्धान्त की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है– 'साधारणीकरण सिद्धान्त'। 'साधारणीकरण सिद्धान्त' रस सिद्धान्त और रस विवेचन का मूलाधार है।

साधारणीकरण के बारे में भट्टनायक का कहना है, भावकत्त्व व्यापार द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का साधारणीकरण हो जाता है। 'साधारणीकरण' का शब्दिक अर्थ है – व्यक्ति का विलयन, निर्वैयक्तीकरण या सम्बन्ध विशेष का त्याग, असाधारण को साधारण रूप में प्रस्तुत कर देना आदि।

प्रश्न 9– 'अभिव्यक्तिवाद' क्या है ? भरतमुनि के रस सिद्धान्त पर आधारित अभिनव गुप्त प्रवर्तित व्याख्या की विवेचना कीजिए।

उत्तर– भट्टनायक ने भरतमुनि के रस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए जो 'भुक्ति सिद्धान्त' प्रस्तुत किया था, उसकी अभिनव गुप्त ने आलोचना करते हुए 'अभिव्यक्तिवाद' का सिद्धान्त दिया। अभिनव गुप्त के अनुसार,

'सर्वथा रसात्मक तथा वीतविघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है।'

उनके पूर्व रस आस्वाद्य माना गया था अर्थात् वस्तुनिष्ठ माना गया था, किन्तु अभिनवगुप्त उसे आस्वाद रूप या व्यक्तिनिष्ठ मानते हैं। रस और रसभोग का पृथक अस्तित्व उन्हें स्वीकार नहीं। उनके अनुसार दोनों में अभेद है। जो रस है, वही रस भोग है। रस प्रतीति का विरोध करते हुए भट्टनायक ने भुक्ति का समर्थन किया था, पर अभिनव दोनों में भेद नहीं मानते। प्रतीति ही भुक्ति है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वे ध्वनि में भावकत्व और भोगीकरण दोनों व्यापारों को अंतर्भुक्त कर देते हैं। रसास्वादन के समय सहृदय देशकाल, स्व–पर, व्यक्तिगत राग–द्वेष से मुक्त होकर एक विशेष प्रकार के आनन्द की प्रतीति करता है। इस प्रतीति का आधार साधारणीकरण का धरातल है। रस का स्थान सहृदय का चित्र है। सहृदय संस्कार रूप से उपस्थित स्थायी, जो काव्य में अभिव्यक्त या प्रतीयमान होता है, आस्वादन करता है।

प्रश्न 10– साधारणीकरण क्या है ?

उत्तर– 'साधारणीकरण' की अवधारणा रस सिद्धान्त के संदर्भ में आयी। सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का विश्लेषण भट्टनायक ने प्रस्तुत किया। भट्टनायक इसे रचना प्रक्रिया और पाठक की भावयित्री प्रक्रिया दोनों संदर्भों में उठाते हैं। लेकिन परवर्ती आचार्यों ने इसे पाठक के संदर्भ में ही सोचा–समझा और परखा। भट्टनायक शब्द की तीन शक्तियाँ मानते हैं – अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा की परिधि में विभावादि असाधारण होते हैं अर्थात् मुख्य रूप से वे असाधारण होते ही हैं। पर भाषा के कलात्मक प्रयोग से वे साधारणीकृत हो जाते हैं। इसे ही भावकत्व व्यापार कहते हैं। भट्टनायक और अभिनवगुप्त के बाद आचार्य शुक्ल ने इस पर विस्तार से विचार किया – पुरानी काव्य–परिपाटी से अलग। वे आलंबन–धर्म का साधारणीकरण मानते हैं। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके, तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।

इस प्रकार साधारणीकरण का अर्थ है – असाधारण का साधारण या विशेष का निर्विशेष हो जाना। काव्य में असाधारण या विशेष का चित्रण होता है, जो साधारणीकृत होकर पाठक या श्रोता को रसोद्रिक्त करते हैं। काव्य में वर्णित राम–सीतादि व्यक्ति–बन्धनों से मुक्त होकर सामान्य प्रेमी–प्रेमिका के गुण–धर्मों से युक्त होकर सामान्यीकृत हो जाते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव सभी का साधारणीकरण माना है। कवि की अपनी रचना–प्रक्रिया में ही वे साधारणीकृत हो जाते हैं। पाठक या श्रोता अपने आदिम संस्क रों के कारण काव्यजन्य आनन्द का अनुभव करता है।

प्रश्न 11– सहृदय किसे कहते हैं ?

उत्तर– संस्कृत साहित्य में पाठक को रसज्ञ, भावक या सहृदय कहा जाता है। निरन्तर काव्य के अध्ययन, अनुशीलन से जिसकी प्रज्ञाशक्ति (समझ) अत्यधिक विकसित हो उसे सहृदय कहते हैं। दूसरे शब्दों में काव्यार्थ को सही–सही समझने वाला। काव्य में अर्थ बोध से सम्बन्धित अवान्तर प्रसंगों एवं शास्त्रों का ज्ञाता, प्रकृत तथा सरस वृत्ति प्रधान व्यक्ति ही सहृदय या पाठक है। पाठक की सरस वृत्ति और प्रकृत होने का तात्पर्य यह है कि सामान्य मानव की तरह उसके हृदय में सनातन रूप से उपस्थित वासनाएँ (जैसे – रति, उत्साह, क्रोध, हास आदि) के उत्पन्न होने में कहीं भी नैसर्गिक बाधा नहीं उत्पन्न हो। वह उन्मादग्रस्त, विक्षिप्त अथवा संन्यासी की तरह न हो।

2.8 अति लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रस सिद्धान्त' के प्रवर्तक कौन हैं ?

उत्तर– संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रस सिद्धान्त' के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि हैं।

प्रश्न 2– संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में सबसे पहला सम्प्रदाय कौन है ?

उत्तर– संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में सबसे पहला सम्प्रदाय 'रस सम्प्रदाय' है।

प्रश्न 3– भरतमुनि की कृति का क्या नाम है ?

उत्तर– भरतमुनि की कृति का नाम 'नाट्‌यशास्त्र' है।

प्रश्न 4– भरतमुनि के रस सूत्र के पहले व्याख्याता कौन थे ? उनके सिद्धान्त का नाम बताइए।

उत्तर– भरतमुनि के रस सूत्र के पहले व्याख्याता भट्टलोल्लट थे तथा उनके सिद्धान्त का नाम 'उत्पत्तिवाद' था।

प्रश्न 5– शंकुक के रस सूत्र विश्लेषण सिद्धान्त का नाम बताइए।

उत्तर– शंकुक के रस सूत्र विश्लेषण सिद्धान्त का नाम 'अनुमितिवाद' है।

प्रश्न 6– 'चित्रतुरग न्याय' की धारणा के प्रवर्तक का नाम क्या है?

उत्तर– 'चित्रतुरग न्याय' के प्रवर्तक शंकुक थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 7– 'अनुव्यवसाय' सिद्धान्त के पुरस्कर्त्ता का नाम बताइए।

उत्तर– अनुव्यवसाय सिद्धान्त के प्रवर्तक भट्टतौत हैं।

प्रश्न 8– भट्टनायक ने भरतमुनि के रस सूत्र के व्याख्या संदर्भ में कौन सा सिद्धान्त दिया था ?

उत्तर– भट्टनायक ने भरतमुनि के रस सूत्र के व्याख्या संदर्भ में 'भुक्ति का सिद्धान्त' दिया था।

प्रश्न 9– 'साधारणीकरण' सिद्धान्त के पहले उल्लेखकर्त्ता का नाम बताइए।

उत्तर– 'साधारणीकरण' सिद्धान्त के पहले उल्लेखकर्त्ता भट्टनायक हैं।

प्रश्न 10– अभिनव गुप्त के रस सूत्र विश्लेषण सिद्धान्त का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– अभिनव गुप्त के रस सूत्र विश्लेषण सिद्धान्त का नाम 'अभिव्यक्तिवाद' है।

प्रश्न 11– 'स्थायी भाव' क्या है ?

उत्तर– स्थायी भाव वे प्रधान भाव हैं, जो रस की अवस्था तक पहुँचते हैं।

प्रश्न 12– स्थायी भावों की संख्या कितनी है ? उनके नाम लिखिए।

उत्तर– स्थायी भावों की संख्या नौ बताई गई है, किन्तु इनकी संख्या आठ और दस भी मानी जाती है। उनके नाम हैं – रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद और वत्सल।

प्रश्न 13– विभाव क्या है ?

उत्तर– 'विभाव' से अभिप्राय उन वस्तुओं और विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है। अर्थात् भाव के जो कारण होते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं।

प्रश्न 14– विभाव के कितने प्रकार होते हैं ?

उत्तर– विभाव के दो प्रकार होते हैं – 1) आलंबन विभाव, और 2) उद्दीपन विभाव।

प्रश्न 15– आलंबन विभाव क्या है ?

उत्तर– भाव जिन वस्तुओं या विषयों पर आलंबित होकर उत्पन्न होते हैं, उन्हें आलंबन विभाव कहते हैं। जैसे–नायक–नायिका।

प्रश्न 16– आलंबन विभाव के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर– आलंबन विभाव के दो भेद होते हैं – 1) आश्रय, और 2) विषय।

प्रश्न 17– आश्रय क्या है ?

उत्तर– जिस व्यक्ति के मन में रति आदि भाव उत्पन्न होते हैं, उसे आश्रय कहते हैं।

प्रश्न 18– विषय क्या है ?

उत्तर– जिस वस्तु या व्यक्ति के लिए आश्रय के मन में भाव उत्पन्न होते हैं, उसे विषय कहते हैं।

प्रश्न 19– उद्दीपन विभाव क्या है ?

उत्तर– आश्रय के मन में भाव को उद्दीप्त करने वाले विषय की बाहरी चेष्टाओं और बाह्य वातावरण को उद्दीपन विभाव कहते हैं।

प्रश्न 20– अनुभाव क्या है ?

उत्तर– जहाँ विषय की बाहरी चेष्टाओं को उद्दीपन कहा जाता है, वहाँ आश्रय के शरीर विकारों को अनुभाव कहते हैं।

प्रश्न 21– अनुभाव किससे संबंधित होता है – आश्रय से अथवा विषय से ?

उत्तर– अनुभाव हमेशा आश्रय से सम्बन्धित होते हैं।

प्रश्न 22– अनुभावों को कितने भागों में विभक्त किया गया है ?

उत्तर– अनुभावों को तीन भागों में विभक्त किया गया है – 1) कायिक 2) वाचिक, और 3) सात्त्विक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 23— कायिक अनुभाव क्या है ?

उत्तर— नायकादि का किसी भाव व्यापार के वशीभूत होने पर शरीर के विविध अंग—प्रत्यंगों की सहज चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहते हैं।

प्रश्न 24— कायिक अनुभाव का एक उदाहरण दीजिए।

उत्तर— कायिक अनुभाव का एक उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है —

'माथे लखन कुटिल भइ भौंहे। रद पट फरकत परम रिसौंहें।

लक्ष्मण के क्रोध से वशीभूत होते ही 'भौंहो का कुटिल होना,' '

होठों का फड़कना' ये कायिक या आंगिक अनुभाव है।

प्रश्न 25— वाचिक अनुभाव क्या है ? एक उदाहरण सहित समझाइए।

उत्तर— काव्य में नायकादि का किसी भाव व्यापार के वशीभूत होकर वाणी द्वारा उसकी अभिव्यक्ति को वाचिक अनुभाव कहते हैं — 'जो तुम्हार अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं।

काचे घट जिमि डारों फोरो। सकडं मेह मूलक जिमि तोरी।।

प्रश्न 26— सात्त्विक अनुभाव क्या है ?

उत्तर— मानसी प्रभाव का शरीर के अंगों पर अभिव्यक्त संवेगात्मक प्रभाव ही सात्त्विक अनुभाव है।

प्रश्न 27— सात्त्विक अनुभावों की संख्या कितनी है ? नाम सहित बताइए।

उत्तर— सात्त्विक अनुभावों की संख्या आठ है — कम्प, स्तम्भ, रोमांच, स्वरभेद, अश्रु, मूर्च्छा, स्वेद, विवर्णता।

प्रश्न 28— संचारी भावों की संख्या कितनी है ?

उत्तर— संचारी भावों की संख्या तैंतीस है।

प्रश्न 29— संचारी भावों को किन—किन भागों में विभक्त किया गया है ?

उत्तर— संचारी भावों को आत्मगत, परगत और मध्यस्थ — इन तीन भागों में विभक्त किया गया है।

प्रश्न 30— श्रृंगार रस का स्थायी भाव क्या है ?

उत्तर— श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति है।

प्रश्न 31— 'हास' स्थायी भाव का रस रूप क्या है ?

उत्तर— 'हास' स्थायी भाव का रस रूप 'हास्य' है।

प्रश्न 32— करुण रस का स्थायी भाव क्या है ?

उत्तर— करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है।

प्रश्न 33— रौद्र रस का स्थायी भाव क्या है ?

उत्तर— रौद्र रस का स्थायी भाव 'क्रोध' है।

प्रश्न 34— वीर रस के स्थायी भाव का उल्लेख कीजिए।

उत्तर— वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' है।

प्रश्न 35— 'भय' स्थायी भाव का 'रसरुप' क्या है ?

उत्तर— 'भय' स्थायी भाव का 'रसरुप' भयानक है।

प्रश्न 36— वीभत्स रस का स्थायी भाव क्या है ?

उत्तर— वीभत्स रस का स्थायी भाव 'जुगुप्सा' है।

प्रश्न 37— विस्मय स्थायी भाव के रसरुप का नाम लिखिए।

उत्तर— विस्मय स्थायी भाव का रसरुप 'अद्भुत' है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 38— शान्त रस के स्थायी भाव का नाम लिखिए।

उत्तर— शान्त रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' है।

प्रश्न 39— श्रृंगार रस के कितने विभाजन है ?

उत्तर— श्रृंगार रस को दो भागों में विभक्त किया गया है — 1) संयोग, और 2) विप्रलम्भ अथवा वियोग।

प्रश्न 40— संयोग श्रृंगार के विभागों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर— संयोग श्रृंगार को सामान्यतया दो भागों में विभक्त किया जाता है — 1) नायकारब्ध, और 2) नायिकारब्ध।

प्रश्न 41— विप्रलम्भ श्रृंगार को आचार्यों ने कितने भागों में विभक्त किया है ?

उत्तर— विप्रलम्भ श्रृंगार को पाँच भागों में विभक्त किया गया है —

1) पूर्वराग 2) मान 3) प्रवास 4) विरहात्मक 5) करुणात्मक।

प्रश्न 42— आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में वीर रस के कितने भेदों का उल्लेख किया है ? नाम बताइए।

उत्तर— आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' के अंतर्गत 'वीर रस' के तीन भेदों का उल्लेख किया है —

1) दानवीर 2) धर्मवीर, और 3) युद्धवीर।

प्रश्न 43— 'साधारणीकरण' का शब्दिक अर्थ बताइए।

उत्तर— 'साधारणीकरण' का अर्थ है — असाधारण का साधारण या विशेष का निर्विशेष हो जाना।

प्रश्न 44— 'सहृदय' को परिभाषित कीजिए।

उत्तर— पाठक को संस्कृत साहित्य में रसज्ञ, भावक या सहृदय कहते हैं। काव्यार्थ को सही—सही समझने वाला, काव्य में अर्थ बोध से सम्बन्धित अवान्तर प्रसंगों एवं शास्त्रों का ज्ञाता, प्रकृत तथा सरस वृत्ति प्रधान व्यक्ति ही सहृदय या पाठक कहा जाता है।

प्रश्न 45— संचारी भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर— मन के चंचल विकारों को संचारी भाव कहते हैं।

प्रश्न 46— उन दो कारणों का उल्लेख कीजिए, जिनके कारण संचारी भाव को व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है।

उत्तर— संचारी भावों को व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है। इसका पहला कारण यह है कि एक ही संचारी भाव कई रसों के साथ हो सकता है। दूसरा कारण यह है कि वह पानी के बुलबुले की तरह उठता और शांत होता रहता है।

प्रश्न 47— रस का वह कौन सा अवयव है जो शुरु से अन्त तक यानी रस निष्पत्ति तक बना रहता है ?

उत्तर— स्थायी भाव आदि से अंत तक बना रहता है और एक रस का एक ही स्थायी भाव होता है।

प्रश्न 48— रस के निर्वैयक्तिक होने का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर— रस के निर्वैयक्तिक होने का अर्थ है कि वह व्यक्ति की संकीर्ण सीमाओं से परे होता है।

प्रश्न 49— रस के व्यंग्य होने का क्या अर्थ है ?

उत्तर— रस के व्यंग्य होने का तात्पर्य है कि उसका कथन नहीं किया जा सकता, वह लावण्यता कांति की भाँति प्रतीयमान होता है।

2.9 सारांश

आपने 'रस सिद्धान्त' से संबंधित विभिन्न पारिभाषिक शब्दावलियों, प्रसंगों का व्यापक अध्ययन किया। भरतमुनि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक, विभिन्न आचार्यों की स्थापनाओं से गुजरना आपके लिए एक विचारोत्तेजक अनुभव रहा होगा। रस, रस के अवयव, रस के प्रकार, साधारणीकरण इन सबसे गहरायीपूर्वक परिचित हुए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई : 3

अलंकार सिद्धान्त

मूल स्थापनाएँ, अलंकारों का वर्गीकरण

संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 अलंकार सम्प्रदाय की पीठिका
3.3 अलंकार की विकास यात्रा
3.4 महत्त्वपूर्ण दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
3.5 लघुउत्तरीय प्रश्न
3.6 अति लघुउत्तरीय प्रश्न
3.7 सारांश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.0 प्रस्तावना :

अलंकार का व्यापक अर्थ में प्रयोग भामह से रुद्रट तक (सन् 600 ई. से 850 तक) हुआ। इतनी व्यापक परंपरा में आचार्य दण्डी अवश्य अपवाद हैं। दण्डी के काव्य विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थ का नाम 'काव्यादर्श' है। लेकिन उद्‌भट का 'काव्यालंकार सारसंग्रह' वामन का 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति', रुद्रट का 'काव्यालंकार' आदि ग्रन्थ अलंकार के व्यापक अर्थ का सहज ही संकेत देते हैं।

रुद्रट के बाद काव्य विवेचन सम्बन्धी प्रतिमानों में व्यापक बदलाव आया। काव्य के विविध अंगों का विवेचन जिन ग्रन्थों में किया गया, उन्हें 'काव्य मीमांसा', 'काव्यप्रकाश', 'काव्यानुशासन' नाम दिये गये। दूसरी तरफ काव्य के विशेष अंग को लेकर जिन ग्रन्थों का सृजन किया गया, उन्हें 'ध्वन्यालोक', 'हृदय दर्पण', 'व्यक्तिविवेक' आदि कहा गया। आचार्य रुय्यक ने अलंकार संबंधी अपने ग्रन्थ का नाम रखा – 'अलंकार सर्वस्व'। इस प्रकार अलंकार अपने व्यापक अर्थ से च्युत होकर संकुचित सीमा में बँध गया। विश्वनाथ ने उसकी परंपरा को और भी अस्वीकार किया और मात्र अंगद बाजूबन्द तक सिमटा दिया। आइए कुछ संदर्भो एवं महत्वपूर्ण प्रश्नों के माध्यम से इस सम्प्रदाय का विशेष अध्ययन किया जाए।

3.1 उद्देश्य :

प्रायः उपमा, रुपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, यमक आदि के लिए 'अलंकार' शब्द का प्रयोग किया जाता है। ऐसी मान्यता है कि जो अलंकृत करे, वही अलंकार है। लेकिन काव्यशास्त्र के आरंभिक दिनों में अलंकार पद का प्रयोग अत्यंत व्यापक अर्थ में होता था। काव्य के समस्त प्रतिमानों को इस पद के अंतर्गत् शामिल किया गया था। अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक भामह की कृति का नाम ही है – 'काव्यालंकार'। इस कृति में अलंकार के तहत गुण, रीति, रस, अलंकार, काव्यदोष आदि समस्त काव्य अंगों को सम्मिलित किया गया है। इस अध्याय में अलंकार सम्प्रदाय की मूल स्थापनाओं का आप विशेष अध्ययन करेंगे।

3.2 अलंकार सम्प्रदाय की पीठिका

भारतीय काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में साहित्य, कला, नाट्य, संगीत आदि को सम्मिलित कर अपनी कृति को एक मूल्यवान बृहद् कोश में रुपान्तरित किया। उन्होंने अपनी कृति में मात्र चार अलंकारों का उल्लेख किया है – उपमा, रुपक, दीपक तथा यमक। इनका उल्लेख उन्होंने वाचिक अभिनय के रुप में किया। अर्थात्, उनके अनुसार वे अलंकार अभिनेयता से सम्बद्ध हैं, शब्दार्थों के काव्य से नहीं। भरतमुनि के बाद आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में इसे व्यापक अर्थ से समृद्ध किया।

3.3 अलंकार की विकास यात्रा की तीन मंजिलें : आचार्य भामह ने 'अलंकार' का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया और काव्य–रचना के समस्त उपकरणों को उसी में अन्तर्भुक्त कर लिया। अलंकार की परिकल्पना में उन्होंने वक्रोक्ति को शामिल किया और अलंकार को वक्रोक्ति कहकर रचना सम्बन्धी अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न को उठाया। उन्होंने काव्य को न्याय विधा (लॉजिक) और व्याकरण से अलग करके उसे भी उन्हीं के समान अथवा उनसे भी ऊँचा स्थान दिया। भामह ने कुल 38 अलंकारों का उल्लेख करते हुए इन्हें छः उपविभागों में विभाजित किया –

1) अन्य द्वारा उदाहृत, जैसे अनुप्रास, यमक, रुपक, दीपक तथा उपमा।
2) अन्यों द्वारा स्वीकृत आक्षेप, अर्थान्तरन्यास आदि।
3) हेतु, सूक्ष्म और लेश की अनलंकारता।
4) यथासंख्य और उत्प्रेक्षा।
5) स्वाभावोक्ति, प्रेयस आदि।

अलंकार की विकास यात्रा में तीन मंजिले स्पष्टतः दिखाई पड़ती हैं –

1) अलंकार ही सौन्दर्य है, इस मंजिल पर भामह, दण्डी और वामन हैं।
2) अलंकार और अलंकार्य का भेद, रुद्रट ने अलंकार से अलग रस का वर्णन किया।
3) काव्य की बाह्य सज्जा का उपकरण, परवर्ती आचार्यों की इस मान्यता ने अलंकार के इस अर्थ को सीमित कर दिया।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

3.4 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– 'अलंकार' पर विचार करते हुए उसे विभिन्न आचार्यों की व्याख्याओं के संदर्भ में विवेचित कीजिए।

उत्तर– सुन्दर को और भी सुन्दर बनाने की प्रवृत्ति ने अलंकार को जन्म दिया, क्योंकि अलंकृत करना मनुष्य का स्वभाव है। फिर रचनाकार तो और भी विशिष्ट दृष्टि से सम्पन्न होता है, वह सौन्दर्य में ही नहीं, विरुप में भी सौन्दर्य देखता है तथा अपनी अभिव्यक्ति को मनोरम बनाने का हर सम्भव प्रयास करता है। यह अकारण नहीं है कि आचार्य वामन सौन्दर्य को ही अलंकार कहते हैं – 'सौन्दर्यमलंकारः'।

'अलंकार' शब्द की अवधारणा अत्यंत प्राचीन है। अनुमानतः आरम्भ में इसका संबंध व्याकरण एवं तर्क न्याय से रहा होगा। आचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में सबसे पहले उपमा, रुपक, यमक, दीपक इन चार अलंकारों का उल्लेख किया है। उन्होंने कहीं अलंकार को परिभाषित नहीं किया, हाँ एक स्थान पर यह ज़रुर बताया कि इससे काव्य अलंकृत होते हैं। अलंकार की सबसे पहली परिभाषा आचार्य दण्डी ने दी। उनका कहना है –

'काव्य शोभाकरान् धर्मान अलंकारान् प्रचक्षते।'

अर्थात् **'काव्य के शोभाकारक धर्म को अलंकार कहते हैं।'** लेकिन दण्डी ने 'शोभाकारक' शब्द को स्पष्ट नहीं किया, काव्य मर्मज्ञों का यह मानना है काव्य शोभा की रचना गुण आदि भी करते हैं, जो निश्चित रुप से अलंकार नहीं हैं। कालांतर में आचार्य वामन ने आचार्य दण्डी के इस अभिप्राय को स्पष्ट करने का प्रयास किया –

'काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशय हेतवस्तेअलंकाराः।'

अर्थात् **'काव्य में शोभा की सृष्टि करने वाले धर्म का नाम गुण है। अलंकार उससे भिन्न है। वह गुण की अतिशयता (उत्कर्ष) का विधायक तत्त्व है।** आचार्य वामन ने अलंकार के दो रुपों का उल्लेख किया। प्रथम के अनुसार, काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का नाम अलंकार है – **'सौन्दर्यमलंकारः'**।

चूँकि इस परिभाषा में एक हद तक अतिव्याप्ति दोष है, इसलिए आचार्य वामन ने पुनः परिभाषित किया कि **जिसके द्वारा काव्य अलंकृत किया जाए या हो वह अलंकार है।**

'अलंकार सम्प्रदाय' के आदि आचार्य भामह ने अलंकार को स्पष्ट रुप से परिभाषित तो नहीं किया, लेकिन अलंकार पर एक बेहद विशिष्ट टिप्पणी अवश्य की –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिः अलंकाराय कल्पते।'

अर्थात् **वाणी का वह काव्यमय व्यापार जो 'अर्थ की वक्रता' से संयुक्त हो अलंकार है।** इस प्रकार आचार्य भामह ने अलंकार को परिभाषित नहीं किया है पर उसके मूल में वक्रोक्ति को स्वीकार करके काव्य की भाषा को ही विवेचित करने को प्रयास किया है। अतिशयोक्ति को वे अलंकार का मूल या बीज मानते हैं। उनके अनुसार अतिशयोक्ति का अर्थ है लोकातिक्रान्त गोचर वचन अर्थात् जन सामान्य की भाषा शैली से भिन्न उक्ति। 'वक्रोक्ति' इसी उक्ति को कहते हैं। वे आगे कहते हैं वक्रोक्ति के बिना काव्य में सौन्दर्य लाया ही नहीं जा सकता। उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति हीन उक्ति 'वार्ता' है – चमत्कार हीन उक्ति। उदाहरण के लिए – 'सूर्य अस्त हो गया' वार्ता है, काव्य नहीं। आचार्य रुद्रट वक्रता के प्रकाश में अलंकार को परिभाषित करते हैं –

'अभिधानप्रकार विशेषा एव चालंकाराः।'

अर्थात् **काव्य कथन का विशिष्ट (भंगिमायुक्त) स्वरुप ही अलंकार है।** आचार्य आनंदवर्धन अलंकार को परिभाषित करते हुए कहते हैं –

'तत् (रस) प्रकाशिनो वाच्य विशेषा एवं रुपकादयोअलंकाराः।'

अर्थात् **'रस को व्यंजित (प्रकाशित) करने वाले वाच्य विशेष से सम्बद्ध तत्त्व रुपकादि अलंकार के नाम से जाने जाते हैं।'** आचार्य मम्मट अलंकार को परिभाषित करते हुए कहते हैं –

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं अङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवत् अलंकाराः तेऽनुप्रासोमादयः।'

अर्थात् **'शब्द एवं अर्थरूप अंगों के द्वारा जो रसादि का उपकार करते हैं, उत्कर्ष प्रदान करते हैं, वे अनुप्रास, उपमादि, हारादिवत् अलंकार कहे जाते हैं'।**

रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत आचार्यों की स्थापनाओं के आलोक में ही अलंकार को परिभाषित किया है। आचार्य कुलपति कहते हैं

'रसहिं बढ़ाये होय जहँ, कबहुँक अंग निवास।
अनुप्रास उपमादि हैं, अलंकार सुप्रकास।'

उसी तरह आचार्य भिखारीदास का कहना है –

'अर्थ शब्द कर करत हैं, जो रस को उपचार।
भूषन जैसे जीव को, ते कहिए अलंकार।'

आधुनिक काल के प्रतिष्ठित आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस मीमांसा' के अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत् 'अलंकार' को इस तरह परिभाषित किया है, **'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी–कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।'** उसी तरह वे यह भी कहते हैं, **'अर्थ का उत्कर्ष दिखाने तथा उसकी मार्मिकता का तीव्रतापूर्वक बोध कराने में सहायक काव्य वाक्य ही अलंकार है।'**

अलंकार के संदर्भ में उल्लिखित महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं से दो तरह की मान्यताएँ अभिव्यक्त होती हैं – शास्त्रकारों का एक वर्ग उसे काव्य में सर्वाधिक वरीयता देता हुआ, उसे समग्र सौन्दर्य का पर्याय मानता है किन्तु एक दूसरा वर्ग वह भी है जो काव्य की आत्मा रस को प्रकाशित करने का साधन मात्र स्वीकारता है।

प्रश्न 2– 'अलंकार सम्प्रदाय' पर विचार कीजिए।

उत्तर– काव्यशास्त्रीय विवेचन क्रम में अलंकार सम्प्रदाय का ऐतिहासिक महत्त्व रहा है। 'अलंकार सम्प्रदाय' का अर्थ उन आचार्यों की परंपरा से लिया जाता है, जिन्होंने रस और ध्वनि सिद्धान्तों के प्रतिष्ठित हो जाने के पहले और बाद में 'अलंकार' को ही काव्य की उत्कृष्टता का प्रमुख साधन माना। अलंकार का काव्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है, लेकिन अलंकार ही काव्य का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सर्वस्व है, इसे कतिपय आचार्यों ने माना है। इस मत के समर्थक आचार्य वर्ग को 'अलंकार सम्प्रदाय' के अंतर्गत् स्वीकार किया जाता है।

इस सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य भामह (6 वीं श. ई.) हैं, और इस मत के पोषक हैं – भामह के 'काव्यालंकार' ग्रंथ के टीकाकार आचार्य दण्डी (8 वीं श. ई.), उद्भट (7 वीं श. ई.), रुद्रट (9 वीं श. ई.) प्रतिहारेन्दुराज (10 वीं श. ई.), जयदेव (13 वीं श. ई.)। अप्पय दीक्षित (17 वीं श. ई.) भी इसी मत के उत्तराधिकारी हैं। हिन्दी में 'अलंकार' को ही कविता का सर्वस्व स्वीकार करने वाले आचार्य कम ही हैं। आचार्य केशवदास (16 वीं, 17 वीं श. ई.), जसवन्तसिंह (17 वी श. ई.), भूषण (17 वीं श. ई.), दूलह (17 वीं, 18 वीं श. ई.) आदि हिन्दी आचार्यों ने अलंकार को कविता की उत्कृष्टता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपादान माना।

संस्थापक आचार्य भामह काव्य के अनिवार्य प्राणतत्त्व के रूप में अलंकार को स्वीकार कर उसे एक मुख्यधारा का साहित्यिक प्रतिमान घोषित करते हैं। उनका कहना है कि प्रकृतकान्त होने पर भी बनिता के मुख पर आभूषण के बिना जिस प्रकार आभा नहीं आती, उसी तरह नितांत प्रकृतरूप से वाणी में चारुता नहीं आती। वाणी की अलंकृति के लिए वक्राभिधेय शब्दोक्ति इष्ट है। आचार्य दण्डी ने अलंकार को काव्य के पोषक अंगों के रूप में पुकारा। रुद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराज ने अपने ग्रन्थों में अलंकार को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। जयदेव अपनी प्रतिष्ठित कृति 'चन्द्रलोक' में अलंकार की अनिवार्यता प्रखरता से घोषित करते हैं। वे यहाँ तक उल्लेख करते हैं कि अलंकार काव्य का प्राणतत्त्व है।

जैसे कालक्रम के अनुसार अलंकारों की संख्या में पर्याप्त अंतर आता गया, उसी तरह अलंकरों के स्वरुप में भी काफी परिवर्तन हुए। इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है – वक्रोक्ति अलंकार का क्रमशः विकसित स्वरूप। अलंकार सम्पद्राय के आद्याचार्य भामह वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का प्राणतत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार वक्रोक्ति के बिना कोई अलंकार अलंकार हो ही नहीं सकता। वक्रार्थ की विधायक शब्दोक्ति को अलंकार कहते हुए, वे इसके बिना अलंकार की स्थिति स्वीकार नहीं करते। आचार्य वामन इसे ही अर्थालंकार की संज्ञा देते हैं, जबकि रुद्रट शब्दालंकार वर्ग में इसे रखते हैं।

अलंकार सम्प्रदाय की विस्तृत यात्रा से यह पता चलता है, कि आचार्यों के विवेचन में मौलिकता तो है, लेकिन उनके विश्लेषण क्रम में अधिकांशतः अलंकारों की संख्या अथवा परिभाषा पर ही विचार है। अलंकार काव्य पर कैसे प्रभाव डालते हैं, प्रायः इस विषय पर विश्लेषणात्मक अध्ययन उपलब्ध नहीं है। अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने 'स्वभावोक्ति' को भी अलंकारों के अंतर्गत परिगणित कर लिया।

परवर्ती अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकारों का वर्गीकरण करते समय उनके मूल तत्त्वों पर भी विचार किया, उनके वर्गीकरण के लिए कुछ निश्चित सिद्धान्तों का भी निर्धारण किया। सर्वप्रथम रुद्रट ने अलंकारों के वर्गीकरण हेतु तार्किक निर्देशों का उल्लेख 'काव्यालंकार' में किया। आचार्य रूय्यक और विद्याधर ने विभाजन संबंधी निर्देशों को और भी विशिष्ट, युक्तिसंगत और मौलिक स्वरूप प्रदान किया। इस सम्प्रदाय को एक समय सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, इतनी कि पुराने आचार्यों ने आलोचना शास्त्र का नामकरण किया – अलंकारशास्त्र।

अलंकारवादी आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती रस सिद्धान्त का अलग–अलग उल्लेख न करके उसे काव्य के प्राणभूत अलंकारों का ही एक प्रकार माना। साथ ही रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्वित और समाहित अलंकारों के अंतर्गत् रस और भाव के समग्र विषय को समाविष्ट कर लिया। भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट के अलंकार ग्रन्थों में भी इसी दृष्टि का आख्यान है। भामह ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रंथ में कहा, 'जहाँ शृंगारादि रसों की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती है, वहाँ रसवत् अलंकार की सत्ता नहीं मानी जा सकती।' इसी तरह दण्डी, उद्भट एवं रुद्रट भी काव्य में रस निवेश का विशेष यत्न आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार यह निर्विवाद है कि अलंकार सम्प्रदाय के काव्यशास्त्री रस–तत्त्व को अलंकार के अंतर्गत् ही परिगणित करते हैं।

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य में प्रतीयमान अर्थ की महत्ता को भी स्वीकार किया है। आचार्य रुय्यक ने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि भामह तथा उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्यों ने प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ को वाच्य का पोषक मानकर उसे अलंकार के भीतर ही अन्तर्भुक्त किया है। अपने अलंकार ग्रन्थों में इन आचार्यों ने ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यंग्य जैसे पदों का प्रयोग नहीं किया है, और उन्हें काव्य का मूल तत्त्व नहीं माना है। प्रतीयमान अर्थ के विभिन्न प्रकारों को समासोक्ति अप्रस्तुत प्रशंसा और आक्षेप के भीतर समाहार कर दिया है। आदि आचार्यों भामह ने समासोक्ति अलंकार के लक्षण में स्पष्टतः निर्देश किया है कि यह अलंकार वहीं होता है, जहाँ किसी वस्तु का वर्णन होने पर उसकी तरह ही अन्य अर्थ का बोध होता है। इसी तरह पर्यायोक्ति अलंकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

में वाच्चार्थ से अलग अन्य प्रकार के समग्र अर्थों का ग्रहण भामह को अभीष्ट है। स्पष्टतः आलंकारिकों ने प्रतीयमान अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न कर अलंकार विशेष में ही उनका समाहार कर लिया था।

अलंकारवादी आचार्यों की स्थापनाओं के आलोक में लंबे समय तक इस सम्प्रदाय की महत्ता और योगदान को स्वीकार किया जाता रहा। कुछ समय तक आलंकारिकों की मान्यताओं को एक हद तक नेपथ्य में डालने के प्रयास भी हुए, पर रीतिकाल (हिन्दी साहित्य) में आलंकारिकों की स्थापनाओं और उनके अवदानों की फिर प्रमुखता से चर्चा हुयी। यह अलग बात है कि वे शैलीगत विशेषता के अंतर्गत् ही इन मान्यताओं को स्वीकार करते हैं।

प्रश्न 3– अलंकारों के वर्गीकरण पर विचार कीजिए।

उत्तर– प्रचलित मान्यतानुसार वक्तव्य की विभिन्न चमत्कारपूर्ण विधाओं को अलंकार संज्ञा दी गयी है। कथन के अनन्त प्रकार हैं, यही कारण है कि अलंकारों की निश्चित संख्या का निर्धारण संभव नहीं या यह कहा जा सकता है कि उनका संकलित वर्ग विभाजन संभव नहीं। अभिनवगुप्त ने अलंकार को परिभाषित करते हुए कहा, किसी वक्तव्य को सामान्य जनता की साधारण बोलचाल से अलग, विचित्र और चमत्कारपूर्ण शैली में प्रस्तुत करना ही अलंकार है। उक्तिवैचित्र्य का यह रूप अनेक प्रकार का होता है। अतः उक्तिवैचित्र्य की भिन्नता के आलोक में भिन्न–भिन्न प्रकार के अलंकारों की स्थिति सम्भव है।

उक्तिवैचित्र्य की विभिन्नता होने पर भी कुछ अलंकारों की आधारभूत प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जिनको आधार मानकर अलंकारों को विभिन्न भागों में विभाजित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उपमा, अनन्वय, प्रतीप आदि अलंकार सादृश्यमूलक तत्त्वों पर आधारित है। अलंकारों का पृथक–पृथक वर्ग कैसे अपने पृथक–पृथक मूल तत्त्वों पर आधारित है, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि इन अलंकारों में सादृश्य कहीं पर वाच्य रहत है और कहीं पर प्रतीयमान (व्यंग्यार्थ रूप में)।

अलंकारों के वर्गीकरण का मूल बीज भामह में था, लेकिन वर्गों का प्रत्यक्ष निर्देश सबसे पहले उद्‌भट में मिलता है। उन्होंने अलंकारों का विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार किया –

प्रथम वर्ग : 8 अलंकार – पुनरूक्तवदाभास, छेक, वृत्ति, लाट, अनुप्रास, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा (4 शब्दालंकार और 4 अर्थालंकार)।

द्वितीय वर्ग : 9 अलंकार – आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति।

तृतीय वर्ग : 3 अलंकार – यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग : 6 अलंकार – प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट।

पंचम वर्ग : 11 अलंकार – अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, ब्याजस्तुति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति।

षष्ठ वर्ग : 6 अलंकार – सन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग, दृष्टांत।

उल्लिखित अलंकार वर्ग अलंकारों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का द्योतन नहीं करते, लेकिन ये भिन्न–भिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उद्‌भट के पहले भामह के समय अलंकारविषयक चार विभिन्न विचारधाराओं का प्रचलन था। भामह तथा उद्‌भट के बीच यानी छठी शताब्दी ईसवी से आठवीं शताब्दी ईसवी के बीच दो अन्य तरह की वर्ग मान्यताओं का उद्‌भव हुआ। इस प्रकार उद्‌भट का विभाजन भले ही वैज्ञानिक न हो, लेकिन, तत्कालीन अलंकार सम्प्रदाय का एक व्यापक चित्र इससे अवश्य प्रकट होता है।

रुद्रट ने अपनी कृति 'काव्यालंकार' में सबसे पहले वैज्ञानिक विभाजन किया। उन्होंने अलंकार विभाजन के समय सूक्ष्म–से–सूक्ष्म विशेषताओं का ध्यान रखा, और अलंकारों की संख्या उनके समय तक ज्ञात अलंकारों से अधिक जा पहुँची। अलंकारों के मूल तत्त्वों पर विचार करते हुए, उन्होंने अपने द्वारा निरूपित अर्थालंकारों को चार भागों में विभक्त किया – वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। आचार्य रूद्रए ने शेष अलंकारों को इन्हीं का विशेष रूप अथवा रूपान्तरित रूप कहा। इन अलंकारों का विश्लेषण उन्होंने इस प्रकार किया –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वास्तव— वस्तु के स्वरूप का कथन वास्तव है। इस अलंकार के 23 विशेष हैं — सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषय, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, एकावली। इस वर्ग में सर्वाधिक भेद हैं।

औपम्य — जहाँ किसी वस्तु के स्वरूप का अधिक स्पष्टता के साथ वर्णन करने के लिए अप्रस्तुत योजना की जाती है, अर्थात् उसकी तरह की दूसरी वस्तु का वर्णन किया जाय, वहाँ 'औपम्य' अलंकार होता है। इसके 21 प्रकार हैं — उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्वसहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण।

अतिशय — अर्थ और धर्म के नियमों के विपर्यय को, 'अतिशय' अलंकार कहते हैं। पूर्व, असंगति, विहित, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, व्याघात, अहेतु अतिशय के ये 12 भेद हैं।

श्लेष — अनेकार्थ पदों से एक ही वाक्य यदि अनेक अर्थों का बोध कराए तो वहाँ श्लेष अलंकार होगा। इनकी संख्या दस है — अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व, विरोधाभास।

रुद्रट के उल्लिखित विभाजनों को पर्याप्त नहीं माना गया। रुद्रट के बाद रुय्यक ने अलंकारों का विभाजन किया। उनके वर्गीकरण को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और तर्कसम्मत माना गया। रुय्यक ने अपने वर्गीकरण में अर्थालंकारों के पाँच वर्गों का उल्लेख किया— 1) सादृश्यगर्भ 2) विरोध गर्भ 3) शृंखलाबद्ध 4) न्यायमूल्य और 5) गूढ़ार्थ प्रतीतिमूल। रुय्यक ने इनका भी अवान्तर भेद प्रस्तुत किया। उन भेदों के भीतर अन्य अलंकारों का समाहार हो गया। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है —

1) सादृश्यगर्भ— इसको रुय्यक ने तीन भागों में विभक्त किया है — भेद प्रधान, अभेद प्रधान तथा भेदाभेद तुल्य प्रधान। भेद प्रधान के अंतर्गत् 16 अलंकार, अभेद प्रधान के अंतर्गत् 8 एवं भेदाभेद तुल्य प्रधान के अंतर्गत् 4 अलंकार रखे गए हैं।

2) विरोध गर्भ — विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विषम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति, असंगति — ये 12 अलंकार इसके अंतर्गत् आते हैं।

3) शृंखलाबद्ध — कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार ये चार अलंकार हैं।

4) न्याय मूलक — इसके तीन भेद हैं — तर्कन्याय, काव्य न्याय तथा लोकन्याय। कुल 16 अलंकार इसके अंतर्गत् हैं।

5) गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक — सूक्ष्म, संकर, संसृष्टि ये तीन अलंकार इसके अंतर्गत् हैं।

हिन्दी में केशवदास ने अपनी कृति 'कविप्रिया' में नवम् प्रभाव से लेकर सोलहवें प्रभाव तक अलंकारों का विश्लेषण किया है। इसमें 37 अलंकारों का विवेचन है। उनके भेदों की अलग से संख्या निर्धारित नहीं हुयी है। आठ वर्ग बनाकर, इन्हें आठ प्रभावों में रखा गया है। हिन्दी में अलंकारों के वर्गीकरण का **दूसरा प्रयास देव ने अपनी कृति 'काव्य रसायन' में किया है।** उन्होंने अलंकारों को दो भागों में विभाजित किया। मुख्य के अंतर्गत् चालीस अलंकारों का वर्णन हुआ व गौण के अंतर्गत् तीस अलंकारों का वर्णन किया। उन्होंने अलंकार वर्णीकरण हेतु तीन आधारों को स्वीकार किया — 1) एक ही आधार के दो अलंकारों में से एक मुख्य व दूसरा गौण कहा गया है, जैसे — तद्गुण मुख्य तथा अतद्गुण गौण 2) अनुकरणीय को मुख्य तथा अनुकरण को गौण, रसवत् मुख्य तथा उसका अनुकरण गुणवत गौण 3) प्राचीन परम्परा, विशेषतः दण्डी—केशव के अलंकार मुख्य, 'चन्द्रालोक' और विशेषतः 'कुवलयानन्द' के नये अलंकार गौण।

इस प्रकार हिन्दी परंपरा में अलंकारों के विभिन्न वर्गीकरणों में कभी 'मूल' को ध्यान में रखा गया, कभी फल को और कभी खाद्य को। जबकि संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परंपरा में भामह से रुद्रट तक आचार्यों के वर्गीकरणों के न केवल विभिन्न दृष्टिकोण हैं, बल्कि उन दृष्टिकोणों के सुनिश्चित तार्किक और विश्लेषणात्मक आधार हैं। 'साहित्यकोश' के अनुसार 'किसी ने स्कूलों को ध्यान में रखकर अलंकारों का विभाजन किया तो किसी ने उसको वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के ही विशेष भेद कहा, किसी ने उनको उपमा का प्रपंच कहा, तो किसी आचार्य ने भेदप्रधान, भेदाभेदप्रधान, अभेदप्रधान आदि एक दर्जन से भी अधिक वर्गों का निरूपण किया। वर्गीकरणों की इस अनेकता में आचार्य रुय्यक का वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है, क्योंकि उनका वर्गीकरण अलंकारों के मूल तत्त्वों के आधार पर अवलम्बित होने के कारण अधिक स्पष्ट और उपयुक्त है।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.5 लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– 'अलंकार' को परिभाषित कीजिए।

उत्तर– आजकल 'अलंकार' शब्द का प्रयोग प्रायः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, यमक आदि के संदर्भ में किया जाता है। 'अलंकार' शब्द में 'अलम्' और 'कार' दो शब्द हैं। 'अलम्' का अर्थ है भूषण, जो अलंकृत या भूषित करे वह अलंकार है, जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय। लेकिन काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक दिनों में यह अत्यंत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था। 'अलंकार' के अंतर्गत् काव्य सम्बन्धी समस्त उपकरण शामिल कर लिए गए थे। भामह के ग्रन्थ 'काव्यालंकार' के विभिन्न अध्यायों के नामकरण से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है।

प्रश्न 2– 'अलंकार' का व्यापक अर्थ में प्रयोग का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर– जब अलंकार को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया जाय और इसकी व्यापकता में गुण, रीति, रस, अलंकार, काव्यदोष आदि शामिल कर लिया जाता है, तब अलंकार का एक व्यापक अर्थ हमारे सामने प्रकट होता है। भामह से रुद्रट तक (सन् 600 से 850 ई. तक) जो प्रमुख काव्यशास्त्रीय आचार्य हुए, उन्होंने अलंकार का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। इनमें दण्डी अवश्य अपवाद हैं। उनकी कृति का नाम 'काव्यादर्श' है। लेकिन भामह का 'काव्यालंकार' उद्भट का 'काव्यालंकार सारसंग्रह' वामन का 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, रुद्रट का 'काव्यालंकार' ग्रन्थ अलंकार के व्यापक अर्थ के सूचक हैं।

प्रश्न 3– भामह की अलंकार संबंधी मान्यता स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– अलंकार सम्प्रदाय के आदि आचार्य भामह ने अलंकार को परिभाषित नहीं किया है। लेकिन उसके मूल में वक्रोक्ति को स्वीकार करके काव्यभाषा को विवेचित करने का प्रयास किया है। वे अतिशयोक्ति को काव्य का मूल अथवा बीज मानते हैं। अतिशयोक्ति का अर्थ है – लोकातिक्रान्त गोचर वचन अर्थात् जन सामान्य की भाषा शैली से भिन्न उक्ति। यह उक्ति ही वक्रोक्ति है। उनके अनुसार वक्रोक्ति के बिना काव्य में सौन्दर्य लाया ही नहीं जा सकता। वे वक्रोक्ति हीन उक्ति को 'वार्ता', चमत्कार हीन उक्ति कहते हैं।

प्रश्न 4– 'सौन्दर्यमलंकारः' का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर– वामन ने अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय मानते हुए कहा –'सौन्दर्यमलंकारः'। उन्होंने अपने 'काव्यालंकार सूत्र' में अलंकार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है। उनके अनुसार संकीर्ण अर्थ में 'अलंकार' काव्य के वे धर्म हैं, जिनको दण्डी ने शोभाकारक कहा, व्यापक अर्थ में सौन्दर्यमात्र को अलंकार कहते हैं। इसके अंतर्गत् वे सभी विधाएँ आ जाती हैं, जिनके कारण काव्य हमारे मन को आकृष्ट करता है। आचार्य वामन ने व्यापक अर्थ में अलंकार का प्रयोग करते हुए कहा कि अलंकार के कारण ही काव्य ग्राह्य या उपादेय है और वह अलंकार सौन्दर्य है –

'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः।'

प्रश्न 5– विभिन्न आचार्यों की अलंकार संबंधी परिभाषाओं के आलोक में अलंकार सम्बन्धी दो आधारभूत मान्यताएँ क्या हैं ?

उत्तर– अलंकार सम्बन्धी दो अवधारणाएँ प्रचलित हैं। अलंकारवादी प्राचीन आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि ने काव्य के प्राणभूत तत्त्व अलंकार कहा है, अर्थात् उनका मानना है कि काव्य की आत्मा 'अलंकार' है। अलंकार प्रयोग की यह विशेषता प्राचीन आचार्यों के विशेष आग्रह के साथ लक्षित की गयी है। जयदेव और केशवदास भी इसी मत के पोषक हैं। दूसरी अवधारणा अलंकार को काव्य की शोभा बढ़ाने वाला अस्थिर धर्म मानता है। ध्वनिवादी आनन्दवर्धन और रसवादी आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि के अनुसार अलंकार हार आदि आभूषणों की तरह है, जो रस का उपकार करते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने सौन्दर्यवर्धक और रसोत्कर्षक अस्थिर धर्मों को अलंकार कहा है।

प्रश्न 6– अलंकार विभाजन के प्रमुख तीन आधारों का विवेचन कीजिए।

उत्तर– शब्द और अर्थ को चमत्कृत करने के कारण अलंकार सामान्यतः दो प्रकार के वर्गों में विभाजित हैं – शब्दालंकार और अर्थालंकार। जो अलंकार शब्द और अर्थ, दोनों के आश्रित रहकर दोनों को चमत्कृत करते हैं, वे उभयालंकार कहलाते हैं। अलंकारों का उद्देश्य भावों को तीव्रता प्रदान करना है। हिन्दी में मतिराम एवं पद्माकर के अतिरिक्त प्रायः सभी आचार्यों ने अलंकारगत तीनों श्रेणियों का प्रयोग किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 7– शब्दालंकार क्या है ? कुछ प्रमुख शब्दालंकारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– शब्द के दो प्रमुख रूप हैं – ध्वनि और अर्थ। ध्वनि के आधार पर शब्दालंकारों का सृजन होता है। इससे काव्य के संगीत धर्म के उत्थान में सहायता मिलती है। जो अलंकार जिस किसी विशेष शब्द की स्थिति में ही रहे और उसके स्थान पर कोई पर्यायवाची रख देने से उसका अस्तित्व न रहे, वह शब्दालंकार है। अन्य शब्दों में कहें तो, वर्ण निर्भर अर्थनिरपेक्ष अलंकार शब्दालंकार कहलाते हैं। ये अलंकार शब्दाश्रित होकर शब्दिक चमत्कार में विशेष बढ़ोत्तरी करते हैं। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' (1100 ई.) के नवम् प्रकाश के अनुसार कुछ प्रमुख शब्दालंकार हैं – वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), अनुप्रास (छेक तथा वृत्ति), लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास।

प्रश्न 8– अर्थालंकार क्या है ? कुछ प्रमुख अर्थालंकारों के नाम लिखिए।

उत्तर– अर्थ को चमत्कृत या अलंकृत करने वाले अर्थाश्रित अलंकार को अर्थालंकार कहते हैं। जिस शब्द से जो अलंकार सिद्ध होता है, यदि उस शब्द के स्थान पर उसका समानार्थी शब्द रख देने से भी वह अलंकार पहले की तरह बना रहे, तो अर्थालंकार कहलाता है। अर्थनिर्भर, शब्दनिरपेक्ष अलंकार अर्थालंकार कहलाते हैं। जो शब्दों को अलंकृत न कर अर्थों को अलंकृत करें, वे अर्थालंकार कहलाते हैं। अत्यंत प्राचीन काल से अर्थालंकारों का प्रयोग होता आया है। भरतमुनि ने उपमा, रूपक तथा दीपक को स्वीकार किया है। भामह ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में 35 अर्थालंकारों का उल्लेख किया है, इनमें कुछ प्रमुख हैं – आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावन, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, सूक्ष्म, लेश, उत्प्रेक्षा इत्यादि।

प्रश्न 9– आचार्य रूद्रट ने अलंकारों को कितने भागों में विभाजित किया ?

उत्तर– आचार्य रुद्रट ने सम्पूर्ण अलंकारों को चार भागों में विभक्त किया है –

1) वास्तव – वास्तव के अंतर्गत् आचार्य ने 23 अलंकारों की चर्चा की है – सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषय, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, एकावली।

2) औपम्य – औपम्य के अंतर्गत् 21 भेदों का उल्लेख है – उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्वसहोक्ति, साम्य और स्मरण।

3) अतिशय – इसके 12 भेदों की चर्चा है – पूर्व, असंगति, विहित, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, व्याघात, अहेतु।

4) श्लेष – आचार्य ने श्लेष के दस भेदों की चर्चा की है – अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व और विरोधाभास।

प्रश्न 10– आचार्य रुय्यक के अलंकार विभाजन का वर्णन कीजिए।

उत्तर– आचार्य रुय्यक ने सम्पूर्ण अलंकारों को पाँच भागों में विभक्त किया है –

1) सादृश्यगर्भ – इसको आचार्य ने तीन भागों में विभक्त किया है – भेदप्रधान, अभेदप्रधान और भेदाभेद तुल्य प्रधान। भेद प्रधान के अंतर्गत् 16 अलंकार, अभेद प्रधान के अंतर्गत् 8 एवं भेदाभेद तुल्य प्रधान के अंतर्गत् 4 अलंकार रखे गए हैं।

2) विरोधगर्भ – विभावना, विशेषोक्ति, सम, विषम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति, असंगति और विषम।

3) श्रृंखलाबद्ध – कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार ये चार अलंकार हैं।

4) न्यायमूलक – इसके तीन भेद हैं – तर्कन्याय, काव्यन्याय तथा लोकन्याय। इनके उपभेदों की भी चर्चा है, कुल 16 अलंकार इसके अंतर्गत् हैं।

5) गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक – सूक्ष्म, संकर, संसृष्टि ये तीन अलंकार इसके अंतर्गत् हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.6 अति लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1 – अलंकार सम्प्रदाय के आदि आचार्य कौन हैं ?

उत्तर– अलंकार सम्प्रदाय के आदि आचार्य भामह (6 ठी शताब्दी) हैं।

प्रश्न 2 – आचार्य भामह की रचना का नाम लिखिए। रचना शताब्दी भी लिखिए।

उत्तर– आचार्य भामह की रचना का नाम 'काव्यालंकार' है, जिसकी रचना 6 ठी शताब्दी में हुयी।

प्रश्न 3 – अलंकार सम्प्रदाय का स्वर्णकाल कब रहा ?

उत्तर– भामह से रुद्रट (सन् 600 ई. से 850 ई. तक) तक के काल को अलंकार सम्प्रदाय का स्वर्णकाल कहते हैं, इस अवधि में 'अलंकार' को व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता रहा।

प्रश्न 4 – अलंकार सम्प्रदाय के चार प्रमुख आचार्यों और उनकी रचनाओं का नाम लिखिए।

उत्तर– अलंकार सम्प्रदाय के चार प्रमुख आचार्यों और उनकी रचनाएँ हैं –

1) भामह – काव्यालंकार,
2) उद्भट – काव्यालंकार सारसंग्रह,
3) वामन – काव्यालंकार सूत्रवृत्ति और
4) रुद्रट – काव्यालंकार।

प्रश्न 5 – अलंकार के व्यापक अर्थ का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर– गुण, रस, रीति, अलंकार, काव्यदोष आदि सभी विषय पहले अलंकार के अंतर्गत् आते थे। भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट के यहाँ यही दृष्टिकोण है, इसी अर्थ में अलंकार का व्यापक अर्थ है।

प्रश्न 6 – आचार्य भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में किन अलंकारों का उल्लेख किया है ?

उत्तर– आचार्य भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है – उपमा, रूपक, दीपक और यगक।

प्रश्न 7 – भरतमुनि द्वारा विवेचित अलंकारों का संबंध किससे है ?

उत्तर– भरतमुनि द्वारा विवेचित अलंकार वाचिक अभिनय के रूप में गृहीत हुए हैं। अर्थात् वे अभिनेयता से सम्बद्ध हैं, शब्दार्थों के काव्य से नहीं।

प्रश्न 8 – भामह ने कुल कितने अलंकारों का उल्लेख किया है ?

उत्तर– भामह ने कुल अड़तीस अलंकारों का उल्लेख किया है।

प्रश्न 9 – भामह ने अलंकारों के कितने उपविभाग किए।

उत्तर– भामह ने अलंकारों के छः उपविभाग किए।

प्रश्न 10 – भामह ने अलंकार का मूल क्या माना ?

उत्तर– भामह ने अलंकार का मूल वक्रोक्ति माना, इसे वे अतिशयोक्ति भी कहते हैं।

प्रश्न 11 – भामह के 'वक्रोक्ति' व 'अतिशयोक्ति' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– भामह के काव्यालंकार के अनुसार अतिशयोक्ति का अर्थ है –'लोकातिक्रान्त गोचर वचन' अर्थात् जन सामान्य की भाषा–शैली से भिन्न उक्ति। यह उक्ति ही 'वक्रोक्ति है।

प्रश्न 12 – भामह के अनुसार 'वार्ता' क्या है ?

उत्तर– भामह वक्रोक्तिहीन उक्ति को 'वार्ता', चमत्कारहीन उक्ति कहते हैं।

प्रश्न 13 – भामह के 'काव्यालंकार' पर लिखित उद्भट की टीका का क्या नाम है ?

उत्तर– भामह के 'काव्यालंकार' पर उद्भट ने 'भामह विवरण' नामक टीका लिखी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 14 – अलंकार को काव्य का शोभाकर धर्म किसने कहा ?

उत्तर– दण्डी अलंकार को काव्य का शोभाकर धर्म मानते हैं – 'काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते'।

प्रश्न 15 – 'सौन्दर्यमलंकारः' किसने कहा ?

उत्तर– वामन ने अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय मानते हुए कहा – 'सौन्दर्यमलंकार'।

प्रश्न 16 – 'काव्य अलंकार सम्पन्न होकर ही काव्य हो सकता है – किसने कहा ?

उत्तर– वामन ने कहा – 'काव्यं ग्राह्यमलंकरात्' – काव्य अलंकार सम्पन्न होकर ही काव्य हो सकता है।

प्रश्न 17 – वामन ने शब्द–अर्थ के किन दो धर्मों की कल्पना की ?

उत्तर– वामन ने शब्द–अर्थ के दो धर्मों की कल्पना की – नित्य धर्म और अनित्य धर्म। गुण शब्दार्थों का नित्य धर्म है, तो अलंकार अनित्य।

प्रश्न 18 – अलंकार को काव्य का अस्थिर धर्म किसने कहा ?

उत्तर– साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अलंकार को काव्य का अस्थिर धर्म कहते हुए, इसे बाजूबन्द के स्तर तक सीमित कर दिया।

प्रश्न 19 – प्रमुख अलंकारवादी आचार्यों द्वारा उल्लिखित अलंकारों की संख्या बताइए।

उत्तर– प्रमुख अलंकारवादी आचार्यों द्वारा उल्लिखित अलंकारों की संख्या इस प्रकार है –

भामह – 38 अलंकार,

उद्भट – 41 अलंकार,

वामन – 31 अलंकार,

रुद्रट – 66 अलंकार,

मम्मट – 67 अलंकार,

जयदेव – 100 अलंकार और

अप्पय दीक्षित – 123 अलंकार।

प्रश्न 20 – अलंकार विकास यात्रा की तीन प्रमुख मंजिले क्या हैं ?

उत्तर– अलंकार विकास यात्रा की तीन प्रमुख मंजिलें हैं –

1) अलंकार ही सौन्दर्य है,

2) अलंकार और अलंकार्य का भेद, और

3) अलंकार काव्य की बाह्य सज्जा का उपकरण मात्र है।

प्रश्न 21 – शब्दालंकार क्या है ?

उत्तर– जो अलंकार जिस किसी विशेष शब्द की स्थिति में ही रहे और उसके स्थान पर कोई पर्यायवाची रख देने से उसका अस्तित्व न रहे, वह शब्दालंकार है।

प्रश्न 22 – कुछ प्रमुख शब्दालंकारों का नाम लिखिए।

उत्तर– वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि।

प्रश्न 23 – अर्थालंकार क्या है ?

उत्तर – अर्थ को चमत्कृत या अलंकृत करने वाले अर्थाश्रित अलंकार को अर्थालंकार कहते हैं।

प्रश्न 24 – कुछ प्रमुख अर्थालंकारों के नाम लिखिए।

उत्तर – आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, सनासोक्ति आदि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 25 – किस विभाजन में शब्दों का समानार्थी रख देने पर भी अलंकार सौन्दर्य की क्षति नहीं होती।

उत्तर– 'अर्थालंकार' में अलंकार सौन्दर्य वाले मूल शब्द का समानार्थी रख देने पर भी अलंकार सिद्ध होता है।

प्रश्न 26 – आचार्य रुद्रट ने सम्पूर्ण अलंकारों को किन चार प्रमुख विभागों में विभाजित किया ?

उत्तर– आचार्य रुद्रट ने सम्पूर्ण अलंकारों को निम्नांकित चार प्रमुख विभागों में विभाजित किया –

1) वास्तव्य 2) औपम्य 3) अतिशय और 4) श्लेष।

प्रश्न 27 – आचार्य रुय्यक के प्रमुख विभाजनों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– आचार्य रुय्यक ने सम्पूर्ण अलंकारों को निम्नांकेत प्रमुख विभागों में विभाजित किया–

1) सादृश्यगर्भ 2) विरोध गर्भ 3) श्रृंखलाबद्ध 4) न्यायमूलक और 5) गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक।

प्रश्न 28 – 'शब्दालंकार' और 'अर्थालंकार' के साथ 'उभयालंकार' वर्गीकरण को किन आचार्यों ने स्वीकार किया?

उत्तर– अग्निपुराणकार तथा भोज ने 'शब्दालंकार' और 'अर्थालंकार' के साथ 'उभयालंकार' भी जोड़ दिया।

प्रश्न 29 – भामह की अलंकार परिभाषा उद्धृत कीजिए।

उत्तर– भामह की अलंकार परिभाषा है, 'वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिः अलंकाराय कल्पते' अर्थात् वाणी का वह काव्यमय व्यापार जो 'अर्थ की वक्रता' से संयुक्त हो 'अलंकार' कहलाता है।

प्रश्न 30 – आनन्दवर्धन ने अलंकार को कैसे परिभाषित किया ?

उत्तर– आनन्दवर्धन ने अलंकार को परिभाषित करते हुए कहा –

'तत् (रस) प्रकाशिनो वाच्य विशेषा एव रूपकादयोअलंकाराः।

अर्थात् 'रस को व्यंजित (प्रकाशित) करने वाले वाच्य विशेष से सम्बद्ध तत्त्व रूपकादि अलंकार के नाम से जाने जाते हैं।

प्रश्न 31 – आचार्य मम्मट की अलंकार परिभाषा क्या है ?

उत्तर– आचार्य मम्मट की अलंकार परिभाषा है – 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं अंगद्वारेण जातुचित्।
हारादिवत् अलंकाराः तेअनुप्रासोपमादयः।।'

अर्थात् शब्द तथा अर्थरूप अंगों के द्वारा जो रसादि का उपकार करते हैं (उत्कर्ष प्रदान करते हैं), वे अनुप्रास उपमादि हारादिवत् अलंकार कहे जाते हैं।

प्रश्न 32 – आचार्य दण्डी ने अलंकार को कैसे परिभाषित किया ?

उत्तर– आचार्य दण्डी ने अलंकार को परिभाषित करते हुए कहा – 'काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।'

अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्म का नाम अलंकार है।

प्रश्न 33 – पं. रामचन्द्र शुक्ल ने जो 'अलंकार' की परिभाषा दी, उसे उद्धृत कीजिए।

उत्तर– पं. रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस मीमांसा' के अप्रस्तुत विधान के अंतर्गत् अलंकार की परिभाषा दी है –

'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी–कभी सहायक होने वाली युक्ति ही 'अलंकार' है।'

3.7 सारांश

अपने 'अलंकार सम्प्रदाय' के इतिहास का विस्तृत अध्ययन किया। संस्कृत परंपरा के साथ हिन्दी परंपरा के अनेक आचार्यों ने अलंकार की विस्तृत अवधारणा पर बल दिया। अलंकारों के विभिन्न भेद–उपभेदों काभी आपने सम्यक अध्ययन किया। अलंकार पद की एक समय व्यापक अर्थव्याप्ति थी, जिसके अंतर्गत काव्य के समस्त उपकरण सहित थे। बाद में इस पद के अंकों में काफी संकुचन हुआ और अलंकार सौन्दर्य का बाह्य उपकरण मात्र हो गया। बावजूद इसके अलंकार सम्प्रदाय की महत्ता असंदिग्ध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई : 4

रीति सिद्धान्त

रीति की अवधारणा, काव्य गुण, रीति एवं शैली,रीति सिद्धान्त की प्रमुख रचनाएँ

संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
4.3 लघु उत्तरीय प्रश्न
4.4 अति लघु उत्तरीय प्रश्न
4.5 सारांश

4.0 प्रस्तावना

आचार्य वामन प्रवर्तित 'रीति सिद्धान्त' (9 वीं शताब्दी मध्य) के अनुसार काव्य की आत्मा रीति है। रीति का शाब्दिक अर्थ है – प्रणाली, पद्धति, मार्ग, पंथ, शैली आदि। काव्यशास्त्रीय विश्लेषण के अनुसार 'रीति' विशिष्ट पद रचना है। यह विशिष्टता गुणों पर आधारित है। रीति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य वामन ने (9 वीं शताब्दी के मध्य) इस पर विस्तार से विचार किया है। पद रचना के अर्थ में यह समास पर निर्भर है। यही कारण है कि कतिपय आचार्यों ने रीति को समासहीनता, स्वल्पसमासता, दीर्घसमासता आदि के रूप में व्याख्यायित किया है। इस अध्याय में आप रीति सिद्धान्त से जुड़े विभिन्न पक्षों का अध्ययन करेंगे। रीति सम्प्रदाय का संस्कृत काव्यशास्त्र में विशिष्ट महत्व रहा है।

आचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्य के प्रयोग से विभिन्न प्रदेशों के अनुसार आवन्ती, दाक्षिणात्य, पांचाली, औड्रमागधी आदि प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है। उसी तरह भामह (6 ठी शताब्दी) ने 'काव्यालंकार' में और दण्डी (7 वीं, 8 वीं शताब्दी) ने काव्यादर्श में रीति को 'देश' के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया है। कुन्तक ने 10 वीं 11 वी शताब्दी में 'रीति' को मार्ग कहा है, जिसका आधार 'देश' नहीं, बल्कि कवि स्वभाव है। आचार्य विश्वनाथ ने इसे शैली के रूप में ग्रहण किया, जिसका आधार वर्ण संघटन गुण और समास है।

रीति के विभिन्न भेदों की चर्चा मिलती है। इसके भेदों की संख्या दो, तीन और चार तक बतायी गयी है। भामह और दण्डी ने रीति के दो भेदों का उल्लेख किया है – गौड़ी और वैदर्भी। वामन ने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली तथा रुद्रट ने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी भेद किए है। आचार्य कुन्तक ने रीति को 'मार्ग' के रूप में ग्रहण किया है व उसका सम्बन्ध गुण और कवि स्वभाव से स्थापित किया है। उन्होंने इसके तीन भेदों की चर्चा की – सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इस प्रकार रीति शैली या मार्ग के रूप में व्याख्यायित किया गया है, जिसकी विवेचना समास, गुण, अलंकार और वैचित्र्य आदि के आधार पर की गयी है।

आइए विभिन्न प्रश्नों के माध्यम से इस सम्प्रदाय का विस्तार से अध्ययन करें।

4.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से हम जान सकेंगे–

1. रीति की अवधारणा को,
2. काव्यगुण का ज्ञान कर सकेंगे।
3. रीति एवं शैली की अंतर कर सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. रीति सिद्धान्त की प्रमुख रचनाओं का ज्ञान कर सकेंगे।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

4.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1 –रीति की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए, रीति को काव्य की आत्मा कहने के अभिप्राय को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– रीति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। हालाँकि वामन के पहले भी इस सिद्धान्त से लोग परिचित थे, लेकिन इसका एक 'विशिष्ट अर्थ' में सबसे पहला प्रयोग उन्होंने ने ही किया। वामन के पहले रीति से मिलती–जुलती अवधारणाएँ प्रस्तुत की गयीं। प्रसंगवश उनका उल्लेख इस प्रकार संभव है –

रीति का पूर्व वृत्त – आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' में इससे मिलते–जुलते अर्थ में दो पदो का प्रयोग हुआ है– प्रवृत्ति और वृत्ति का। प्रवृत्ति को परिभाषित करते हुए आचार्य भरत ने कहा है, 'पृथिव्यां नाना देशवेशभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः' अर्थात् जो नाना देशों के वेष, आचार, भाषा, वार्ता को व्यक्त करे, वह प्रवृत्ति है। इसके चार भेद हैं – आवन्ती, दाक्षिणात्य, पांचाली और उड्रमागधी। इस विभाजन को पश्चिमी, दक्षिणी, उत्तरी (मध्यदेशीय) पूर्वी भी कहा जा सकता है। प्रवृत्ति का तात्पर्य है – नाटक के पात्रों की वेश–भूषा, आचार, वार्ता आदि। जबकि रीति का अर्थ है– मात्र भाषा प्रयोग। इस प्रकार एक का सम्बन्ध नाट्य से है जबकि दूसरे का श्रव्यकाव्य से। वृत्ति को भरत ने काव्य की माता कहा है। इनकी भी संख्या चार हैं – भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी, ये विभिन्न प्रकार के वाग्व्यापारों से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार रीति से इनका सम्बन्ध स्थापित करना संभव नहीं, लेकिन रीति प्रवृत्तियों से प्रभावित प्रतीत होती है। कम–से–कम 'पांचाली' का सन्निवेश दण्डी ने अपने 'मार्ग' व वामन ने 'रीति' में किया है।

आचार्य भामह ने 'वैदर्भ' और 'गौड़' का उल्लेख अपने 'काव्यालंकार' में किया है। वे न तो इन्हें रीति कहते हैं और न ही मार्ग। उस समय वैदर्भ काव्यश्रेष्ठ और गौड़ काव्य अश्रेष्ठ माना जाता था। भामह ने इसका खण्डन किया। वह इस समझ को गतानुगतिकता पर आधारित और बुद्धिहीनों की देन मानते हैं। वे श्रेष्ठ काव्य का निर्धारक वैदर्भ या गौड़ीय नहीं मानते, बल्कि 'वक्रता' से समन्वित पद मानते हैं। आचार्य दण्डी ने दो काव्य मार्गों का उल्लेख किया है – वैदर्भ और गौड़ीय। उन्होंने पहले यानी वैदर्भ को श्रेष्ठ माना है। हालाँकि वामन और दण्डी में एक हद तक समानता है, पर उक्त दोनों आचार्यों की अवधारणा में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि दण्डी कुछ गुणों को शब्दगत और कुछ को अर्थगत् मानते हैं, पर वामन गुणों को 'शब्दगत' और 'अर्थगत' दोनों मानते हैं। कहना न होगा वामन की दृष्टि दण्डी की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित व विवेकपूर्ण है।

रीति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य वामन : आचार्य वामन 'रीति सिद्धान्त' के प्रवर्तक हैं। उन्होंने रीति को परिभाषित करते हुए कहा

'विशिष्ट पद रचना रीतिः। विशेषोगुणात्मा।'

अर्थात् विशिष्ट पद रचना रीति है। विशिष्ट का अर्थ है – गुण–सम्पन्न। 'विशेषो गुणात्मा का अर्थ है काव्य की शोभा का एक धर्म अर्थात् शब्द–अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभा सम्पन्न करते हैं, गुण कहलाते हैं। वे हैं ओज, प्रसाद आदि। इस तरह ओज, प्रसाद आदि गुणों से युक्त पद रचना रीति है।

वामन ने गुणों की संख्या दस मानी है। जो नाम शब्द गुण के हैं, वहीं अर्थगुण के हैं। इसे और भी स्पष्टता से इस प्रकार समझा जा सकता है। 'ओज' जब शब्दगुण होगा तब उसका अर्थ होगा शब्दों की सामासिक संघटना। इसी प्रकार जब अर्थगुण होगा तो उसका मतलब होगा अर्थ गम्भीरता। 'प्रसाद' एक ओर शिथिल पद बन्ध का द्योतक है तो दूसरी ओर अर्थ की सरलता का।

रीतिः काव्य की आत्मा : आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा। उनके अनुसार काव्य में 'विशिष्ट प्रकार का बन्ध' होता है। यह बन्ध शब्दार्थों का होता है। वामन के अनुसार, शब्द तथा अर्थगत चमत्कार से युक्त पद रचना का नाम 'रीति' है। इसे और भी संक्षिप्त किया जा सकता है। 'शब्द तथा अर्थगत सौन्दर्य से युक्त' के स्थान पर केवल सुन्दर का प्रयोग किया जा सकता है। सुन्दर पद रचना या सम्यक पद रचना का नाम रीति है। उन्होंने गुण और अलंकार दोनों को शब्द–अर्थ का धर्म माना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। गुण नित्य धर्म है और अलंकार अनित्य। काव्य के लिए वे गुण को अनिवार्य मानते हैं।

आचार्य वामन अपने महत्त्वाकांक्षी ग्रन्थ 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' में रीति को काव्य की आत्मा कहकर पूर्णतः व्यावहारिक एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। देखा जाय तो काव्य बन्ध के अतिरिक्त काव्य और क्या है, यदि इस उत्तर की तलाश की जाय तो एक तरह से हमें एक हद तक अमूर्त अवधारणाओं का आश्रय लेना पड़ता है। वस्तुतः शब्द और अर्थ समन्वित एक विशेष प्रकार की आन्तरिक संगति अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करती है। दोनों को अलग–अलग कर देखना वामन के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का अभिप्राय यही है।

प्रश्न 2– रीति के प्रमुख भेदों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में 'रीति' का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए भी भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। आवन्ती, दक्षिणात्य, औड्रमागधी और पांचाली इन चारों प्रवृत्तियों का सम्बन्ध नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार से था।

रीति की स्पष्ट चर्चा सबसे पहले भामह के 'काव्यालंकार' में मिलती है पर वहाँ 'वैदर्भ' और 'गौड़' की चर्चा रीति रूप में न होकर काव्य भेद के अन्तर्गत् है।

आचार्य कुन्तक ने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। मार्ग कवि स्वभाव पर आधारित है। सुकुमार, विचित्र और मध्यम, ये तीनों मार्ग कवि स्वभाव से जुड़कर व्यक्तिनिष्ठ हो जाते हैं।

'रीतिरात्मा काव्यस्य' के उद्घोषक आचार्य वामन ने रीतियों की संख्या तीन बतायी – वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली। रुद्रट ने एक चौथी रीति का भी उल्लेख किया – लाटीया। राजशेखर ने वामन की रीतियों को मान्यता देते हुए एक 'मैथिली' रीति का उल्लेख किया। भोजदेव ने छः रीतियों का उल्लेख किया – वैदर्भी, पांचाली, लाटीया, गौड़ीया, अवन्तिका और मागधी। विस्तार से रीतियों का वर्णन इस प्रकार संभव है –

1) वैदर्भी रीति – विदर्भ आदि देशों में प्रचलित रीति को 'वैदर्भी रीति' कहा गया। रीति काव्य की सर्वश्रेष्ठ रीति के रूप में इसे स्वीकृति प्राप्त है। दण्डी श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि इन दस गुणों से युक्त वैदर्भी रीति मानते हैं। वामन न सिर्फ इसे समग्र गुणों से युक्त कहते हैं, अपितु इसे वीणा के स्वरों के समान मधुर और विलक्षण कान्ति से युक्त मानते हैं। रुद्रट और राजशेखर वैदर्भी को समास रहित शैली के रूप में ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार यह सुकुमार और कोमल गुणों से युक्त होने के कारण श्रृंगार, करूण, प्रेयस आदि रसों के लिए श्रेष्ठ है। विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' के अनुसार, **'माधुर्य गुण की व्यंजना करने वाले वर्णों द्वारा वृत्तिहीन (समास रहित) या अल्पवृत्ति वाली रचना वैदर्भी है।'**

2) गौड़ी रीति – गौड़ी रीति अथवा शैली ओजपूर्ण है। आचार्य दण्डी के अनुसार दसों गुणों का इसमें समावेश नहीं होता। वामन ने इसे ओजकान्तिमयी शैली के रूप में ग्रहण किया है, जिसमें उग्र पदों और समास बहुलता होती है। इसमें मधुरता और सुकुमारता का अभाव रहता है। रुद्रट ने इसे दीर्घ समास वाली रीति कहा है, जो रौद्र भयानक, वीर आदि उग्र रसों की अभिव्यंजना के योग्य होती है। राजशेखर गौड़ी रीति को दीर्घ समासवाली, सानुप्रास तथा योगवृत्ति सम्पन्न कहते हैं। 'साहित्यदर्पण' के अनुसार, **ओज, गुणप्रकाशक वर्णों से युक्त उद्भट रचना, जिसमें समास और विद्वत्तापूर्ण शब्दों का प्रयोग अधिक होता है, गौड़ी रीति है।**

3) पांचाली रीति – पांचाली रीति का सबसे पहले वामन ने उल्लेख किया। उनके पहले के आचार्यो भामह और दण्डी ने इसका उल्लेख नहीं किया। वामन के अनुसार यह माधुर्य और सुकुमारता से सम्पन्न रीति है। जो अगठित, भावशिथिल, छायायुक्त (कान्तिरहित) मधुर और सुकुमार गुणों से युक्त होती है। रुद्रट के मतानुसार पांचाली लघु समासवाली होती है और राजशेखर भी यही मानते हैं। यह स्वल्पानुसार और उपचारवृत्ति से युक्त मानी गयी है। आचार्य कुन्तक के मध्यम मार्ग में इसकी विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। 'साहित्यदर्पण' के अनुसार, पाँच छः समास युक्त पदों के बन्धवाली रचना पांचाली है। पांचाली मध यमा रीति है।

4) लाटी रीति – लाटी रीति का वामन ने उल्लेख नही किया। रुद्रट ने इसका वर्णन किया है। उनके मतानुसार लाटी मध्यम समासवाली उग्र रसों के वर्णन के लिए उपयुक्त है। अन्य आचार्यों द्वारा इसका उल्लेख नहीं हुआ है। आचार्य विश्वनाथ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के अनुसार लाटी वैदर्भी और पांचाली के मध्य की रीति है। उन्होंने अलग से इसकी कोई विशेषता नहीं बतायी है।

5) पंचालिका – यह पांचाली रीति का ही दूसरा नाम है।

6) मागधी – इस रीति का उल्लेख 'कर्पूरमंजरी' में हुआ है। भोज ने मागधी को खण्डरीति माना है। अर्थात् **जहाँ अन्य रीतियों का अंशतः निर्वाह हो, वहाँ मागधी रीति है।**

7) मैथिली – इस रीति का उल्लेख केवल दो विद्वानों राजशेखर और श्रीपाद ने किया है। **मैथिली रीति में अर्थ की अतिशयता लेकिन स्वाभाविकता, पूरे प्रबन्ध में सन्दर्भ तथा समास का अल्प प्रयोग तथा योग परम्परा के अनुरूप आदि विशेषताओं का होना आवश्यक है।** विद्वानों का एक वर्ग इसे मागधी का ही रूप माना है।

प्रश्न 3– काव्य गुण क्या है ? विभिन्न काव्य गुणों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– रीति को परिभाषित करते हुए आचार्य वामन ने कहा –

'विशिष्ट पद रचना रीतिः विशेषोगुणात्मा।'

इस परिभाषा में काव्य के बहिरंग पक्ष के साथ ही अंतरंग पक्ष को भी ध्यान में रखा गया है और इस प्रक्रिया में गुणों की कल्पना भी अपरिहार्य हो गयी। आचार्य वामन गुणों को सौन्दर्य तत्त्व का मूल कारण मानते हैं। शब्द और अर्थ दोनों से गुणों का सम्बन्ध है। रीति अगर काव्य की आत्मा है तो गुण रीति की आत्मा है। आचार्य आनन्दवर्धन ने रसरूप अंगी के आश्रित रहने वाले को गुण कहा जबकि आचार्य मम्मट ने रसरूप अंगी के धर्म कथारस के उत्कर्ष के कारण रूपधर्म को गुण की संज्ञा दी है। आदि आचार्य भरतमुनि गणु को काव्य दोष का विपर्यय कहते हैं। आचार्य दण्डी के अनुसार गुण काव्य का शोभाविधायक धर्म है।

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य वामन ने गुगों का सर्वाधिक स्पष्ट एवं वैज्ञानिक विवेचन किया। वे गुणों को शब्दार्थ का नित्य धर्म कहते हैं। वामन की दृष्टि में गुणों की संख्या दस है। माधुर्य, ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति, समाधि ये शब्द गुण भी हैं और यही अर्थ गुण भी हैं। कतिपय विद्वान दोनों का योग करके गुणों की संख्या बीस भी मानते है। परवर्ती आचार्यों ने मम्मट के मत का ही विस्तार किया। गुण वर्ण संघटन, शब्द योजना, शब्द–चमत्कार, शब्द प्रभाव तथा अर्थ की दीप्ति पर आश्रित हैं। इन काव्य गुणों का विस्तार से विश्लेषण इस प्रकार संभव हैं –

1) माधुर्य – माधुर्य काव्य का वह गुण है, जिससे काव्य में श्रुति सुखदता, आर्द्रता, भावमयता और आह्लादकता आती है। आचार्य भरतमुनि के अनुसार, काव्य सौन्दर्य श्रुति मधुरता में है वामन रचनागत पृथकता को माधुर्य गुण कहते हैं। उनके अनुसार इसमें लम्बे समास, कटुवर्णों का प्रयोग वर्जित है। मधुरवर्ण, सानुनासिक वर्ण तथा कोमल वर्ण इसके अंतर्गत् शामिल हैं। आचार्य मम्मट ने आह्लादकता अथवा श्रृंगार रस में द्रवित करने की विशेषता को माधुर्य कहा है –

'आह्लादकत्वं माधुर्यश्रृंगारदुतिकारणम्।'

2) ओज – तेज, प्रताप तथा दीप्ति से ओज का सम्बन्ध है। जिस काव्य को सुनकर हृदय में उत्साह, वीरता, आवेश जैसे भाव जगते हैं, ऐसे काव्य को हम ओजपूर्ण कहते हैं। वीर तथा रौद्र रस में इस गुण की उपस्थिति होती है। दण्डी की दृष्टि में समास युक्त पदों की बहुलता इसकी एक प्रधान विशेषता है। वामन के मतानुसार रचना का गाढ़त्व ओज गुण है। हिन्दी की वीरता की कविताओं में यही गुण उपस्थित है।

3) प्रसाद – प्रसाद का अभिप्राय है – प्रसन्नता। प्रसाद गुण के लिए स्वच्छता, सरलता और सहज ग्राह्यता अत्यन्त आवश्यक है। ध्वनिवादियों का मानना है कि यह गुण ऐसा रस धर्म है, जो सामाजिक के हृदय में भाव अथवा अर्थ को शीघ्र उपस्थित कर देता है। समस्त श्रेष्ठ रचनाओं में इस गुण का निर्वाह किया जाता है।

4) श्लेष – श्लेष का अभिप्राय है अनेक शब्दों, अर्थों या वर्णों का एक में संघटित होना। आनन्दवर्धन एवं मम्मट ने इसे अलग गुण न मानकर ओज के अंतर्गत् ही शामिल कर लिया है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में रचना के सघन संघटन को श्लेष कहा है, जबकि वामन सघन संघटन को ओज का गुण मानते हैं। श्लेष गुण और श्लेष अलंकार में अंतर है। रीतिकालीन आचार्य भिखारीदास व देव ने इस गुण को महत्ता दी है।

5) समता – समता का शब्दगत् अर्थ है – समान यानी जहाँ एक जैसा भाव हो। भरतमुनि अपने 'नाट्यशास्त्र' में कहते

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हैं, यदि समास रहित कठिन एवं व्यर्थ पदों की उपस्थिति नहीं हो, वहाँ समता का भाव होता है। समास शब्दों को नवीन अर्थ देते हैं, जैसे–हम पाणि में वीणा न कहकर वीणापाणी कह देते हैं, इससे शब्द में अपेक्षाकृत दुरूहता आ जाती है। इसी तरह कठिन पद भी दुरूहता उत्पन्न कर देते हैं, जैसे–'शतशत्फेनोच्छवसित'। व्यर्थ पदों की निरर्थकता भी समस्त अर्थ को दुरूह बना देती है। आचार्यों के अनुसार, ऐसे दो काकु में समता गुण मिलता है जहाँ भाव सामासिकता, कठिनता और निरर्थकता के व्यूह में न फँसकर सहज सम्प्रेष्य होता है। इस प्रकार सहजता, सरलता और स्वाभाविक एकरसता इस गुण की विशेषता है।

6) सुकुमारता – सुकुमारता का अभिप्राय है – कोमलता। सुकुमारता गुण वहाँ होता है, जहाँ कोमल वर्णों की योजना और सुकुमार भावों की व्यंजना होती है। दण्डी के अनुसार सुकुमारता अपरूप वर्णों की योजना में होती है। वामन के अनुसार, 'अजरठत्वं सौकुमार्यम्' अर्थात् रचनागत अकठोरता सौकुमार्य गुण है। ध्वनिवादी इसका अन्तर्भाव माधुर्य में कर देते हैं। हिन्दी आचार्यों ने इसे स्वतन्त्र गुण नहीं माना है।

7) अर्थव्यक्ति – अर्थव्यक्ति का अभिप्राय – अर्थ प्रकाशन है। आचार्य भरतमुनि ने समग्र अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति को अर्थ गुण कहा है। दण्डी के मतानुसार, जिन पदों से अर्थ अभिप्रेत अर्थ से अन्यत्र न जाए वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है। वामन अर्थ की स्पष्ट प्रतीति को अर्थव्यक्ति गुण कहते हैं।

8) उदारता – उदारता गुण से काव्य के प्रतिपाद्य अर्थ में उत्कर्ष की प्रतीति होती है। इसके अनेक अर्थ हैं – व्यापकता, उत्कर्ष, प्रभावात्मकता और असंकीर्णता। भरतमुनि कहते हैं अलौकिक चरित्रों का वर्णन जब श्रृंगार, अद्भुत जैसे रसों के संयोग से किया जाता है, तब वर्णन में यही गुण काम करता है। दण्डी के अनुसार, उक्ति विशेष को दिखाने के लिए इस गुण का रचनाकार प्रयोग करते हैं।

9) कान्ति – आभा अथवा कमनीयता को कान्ति कहते हैं। भरतमुनि के अनुसार, कान्ति ऐसा गुण है, जिसके अन्तर्गत् श्रुति, मधुर तथा चित्ताकर्षक क्रीड़ाशीलता का वर्णन हो। दण्डी कान्ति को स्वाभाविक वर्णन का केन्द्र बिन्दु मानते हैं, जहाँ स्वभाविक वर्णन द्वारा कान्त जगत् की कमनीयता उद्घाटित होती है। मम्मट कान्ति का अन्तर्भाव ओज में करने के पक्षधर हैं।

10) समाधि – समाधि का शब्दार्थ है – सम्यक् आधान अर्थात् एक वस्तु के धर्म का दूसरे पर आरोपण। दण्डी के अनुसार, जहाँ लोक सीमा के अनुरोध से अन्य के धर्म का अत्यन्त आरोप किया जाता है, वहाँ समाधि गुण उपस्थित होता है। वामन की दृष्टि में क्रमशः आरोह–अवरोह जहाँ हो, वहाँ समाधि गुण होता है –

'आरोहावरोह निमित्तं समाधिराख्यायते।'

प्रश्न 4– 'रीति सिद्धान्त' की प्रमुख मान्यताओं का विश्लेषण कीजिए।

अथवा

'रीतिरात्मा काव्यस्य' को स्पष्ट करते हुए रीति के तत्त्वों का विवेचन कीजिए।

उत्तर– 'रीति सिद्धान्त' के प्रवर्तक आचार्य वामन (9 वीं शताब्दी) हैं। लेकिन आचार्य वामन के पहले भी 'रीति' पर विचार की एक सुदीर्घ परंपरा रही, यह बात अलग है कि वामन के पहले 'रीति' के अभीष्टार्थों में अंतर रहा। रीति को काव्यमूल्य के रूप में आचार्य भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्टतः रीति का उल्लेख न करते हुए भी, भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है – आवन्ती, दाक्षिणात्य, पांचाली और उड्रमागधी। इनका सम्बन्ध विभिन्न देशों (क्षेत्रों) के वेश–भाषा एवं आचार से था।

रीति की स्पष्ट विवेचना सबसे पहले आचार्य भामह ने 'काव्यालंकार' में की। लेकिन वहाँ 'वैदर्भ' और 'गौड़' की चर्चा रीति रूप में न होकर काव्य भेद के अन्तर्गत् है। आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में सर्वप्रथम रीति के अर्थ में मार्ग शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने वाणी के मार्ग की अनेकता को स्वीकार करते हुए, उनमें सूक्ष्म भेद की बात की।

'रीतिरात्मा काव्यस्य' के उदघोषक वामन : 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के उद्घोषक आचार्य वामन (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति) ने रीति को सम्प्रदाय के रूप में भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने विशिष्ट पद रचना को 'रीति' कहा। उनके अनुसार, विशिष्ट पद रचना रीति है। 'रीतिःविशेषोगुणात्मा' रचना की सुन्दरता रीति पर आश्रित है। वामन की परिभाषा का मन्तव्य है – सम्यक पद रचना का नाम रीति है। काव्य की आत्मा है रीति और रीति की आत्मा है – गुण। गुण नित्य धर्म है, लेकिन अलंकार अनित्य।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वामन ने गुण और अलंकार दोनों को शब्द अर्थ का धर्म माना है।

वामन की रीति सम्बन्धी मान्यता का सार – इसे अधिक स्पष्टता से इस प्रकार समझा जा सकता है –

1) वामन के अनुसार विशिष्ट पद रचना 'रीति' है, जो काव्य की आत्मा है।

2) काव्य की रचना गुणों तथा अलंकारों से परिष्कृत एवं सुशोभित भाषा में होनी चाहिए।

3) रीति की विशिष्टता का आधार वामन ने 'गुण' माना। उनके अनुसार, गुण वे हैं, जो शब्दार्थ सहित होने के कारण काव्य सौन्दर्य में बढ़ोतरी करते हैं। वे रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए, शब्द और अर्थ के मर्म से युक्त पद रचना को रीति कहते हैं।

4) गुण और अलंकारों से काव्य में सौन्दर्य की उपस्थिति होती है। इस सौन्दर्य को उत्पन्न करने की विधि रीति है।

5) सौन्दर्य वामन के काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण का मूल आधार है।

6) वामन रीति को शब्द और अर्थ पर आश्रित मानते हैं एवं उसमें रस और ध्वनि का समावेश करते हुए उसे काव्य की आत्मा मानते हैं।

रीति सिद्धान्त के आधार तत्त्व – आचार्य वामन ने सौन्दर्य को काव्य का साधन स्वीकार किया है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि यदि किसी काव्य में गुणों के साथ–साथ दोषों का अस्तित्व भी हो तो गुणों का प्रभाव और महत्त्व कम हो जाता है। यही कारण है कि वे कहते हैं, दोषों के परिहार तथा गुणों को ग्रहण करने से सौन्दर्य की सिद्धि होती है। उन्होंने 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में गुण, दोष एवं अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया है। इन्हें विस्तार से इस प्रकार समझा जा सकता है –

काव्य गुण – भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन ने गुणों का सर्वाधिक स्पष्ट एवं वैज्ञानिक विवेचन किया। वे गुणों को शब्दार्थ का नित्यधर्म कहते हैं। इनकी संख्या दस मानते हैं – माधुर्य, ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति और समाधि। जो शब्द गुण हैं, वहीं अर्थ गुण हैं। कुछ विद्वानों ने दोनों का योग करके गुणों की संख्या बीस बतायी है। इन गुणों की सम्यक् और संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार प्राप्त की जा सकती है –

1) ओज – दण्डी ने इसके संबंध में लिखा है कि जब वाक्यों में समास युक्त पदों की बहुलता होती है, तब ओज गुण का उदय होता है। इसका संबंध रचना की गाढ़ता या गाढ़ बन्धत्व से होता है।

2) प्रसाद – 'शैथिल्य प्रसादः' अर्थात् रचना की शिथिलता प्रसाद गुण है। इस गुण के लिए स्वच्छता, सरलता और सहज ग्राह्यता आवश्यक है।

3) माधुर्य – भरतमुनि के अनुसार काव्य सौन्दर्य श्रुति मधुरता में है।

4) श्लेष – इसका अभिप्राय है अनेक शब्दों अर्थों या वर्णों का एक में संघटन होना। आनंदवर्धन और मम्मट ने इसे पृथक गुण न मानकर ओज के अंतर्गत समाविष्ट किया है।

5) समता – इसका अभिप्राय है समान अर्थात् जहाँ एक जैसा भाव हो। भरतमुनि की मान्यता है कि रचना में यदि समास रहित, कठिन तथा व्यर्थ पद न हो तो वहाँ समता का भाव होता है।

6) सुकुमारता – कोमलता, सुकुमारता का पर्याय है। कोमल वर्णों की योजना जिस रचना में हो, उसके साथ ही सुकुमार भावों की व्यंजना भी हो तब वहाँ यह गुण होता है।

7) अर्थव्यक्ति – इस गुण का अभिप्राय अर्थ प्रकाशन से है। शब्दों अथवा पदों द्वारा समग्र अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति को भरतमुनि ने अर्थव्यक्ति गुण कहा है।

8) उदारता – इस गुण से काव्य के प्रतिपाद्य अर्थ में उत्कर्ष की प्रतीति होती है। इसके अनेक अर्थ माने जाते हैं, जैसे– व्यापकता, उत्कर्ष, प्रभावत्मकता और असंकीर्णता। भरतमुनि मानते हैं कि अलौकिक चरित्रों का वर्णन जब श्रृंगार, अद्भुत जैसे रसों के संयोग से किया जाता है, तब वर्णन में यही गुण काम आता है।

9) कान्ति – कान्ति का अभिप्राय आभा, कमनीयता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार कान्ति ऐसा गुण है, जिसके अंतर्गत् श्रुति–मधुर तथा चित्राकर्षक क्रीड़ाशीलता का वर्णन हो।

10) समाधि – समाधि का शब्दिक अर्थ है – सम्यक आधान। दण्डी के विचार में जहाँ लोक सीमा के अनुरोध से अन्य के धर्म का अन्यत्र आरोप किया जाता है, वहाँ समाधि गुण होता है जबकि वामन के अनुसार, क्रमशः आरोह–अवरोह जहाँ हो वहाँ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'समाधि गुण' माना जाता है।

रीति के प्रकार – वामन ने तीन प्रकार की रीतियों का उल्लेख किया है – वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली। वैदर्भी रीति सर्वश्रेष्ठ और समस्त गुणों से विभूषित है। गौड़ीया में ओज और कान्ति गुण होते हैं। इसमें समास की बहुलता होती है। पांचाली का बन्ध श्लथ और शैली पौराणिक होती है। मधुरता और सुकुमारता इसकी विशेषताएँ हैं। रुद्रट ने एक रीति की बढ़ोतरी की। राजशेखर ने वामन की रीतियों को ही स्वीकार किया। बाद में उन्होंने एक और रीति का उल्लेख किया – 'मैथिली'। गौड़ीया और पांचाली रीतियाँ एक दूसरे की विरोधी हैं। वैदर्भी में दोनों का सुन्दर समन्वय होता है – दो विरोधों का सामंजस्य। यही कारण है कि इस रीति को श्रेष्ठ रीति कहते हैं।

वामन का वस्तुवादी दृष्टिकोण – काव्य की आत्मा 'रीति' है – ऐसा कहकर वामन ने वस्तुवादी चिंतन का परिचय दिया। वे रीति और गुण को अभिन्न मानते हैं, अर्थात् जो गुण है वही रीति है और जो रीति है वही गुण है। गुण के अभाव में रीति की कल्पना संभव नहीं। वे गुण को रीति का धर्म मानते हैं। जैसे–आग का धर्म जलना है, उसी प्रकार रीति का धर्म गुण है। अन्य शब्दों में पद रचना की सफलता ही काव्य की सफलता है। वामन के रीति सिद्धान्त ने काव्य के वस्तुवादी मूल्यांकन में एक हद तक सहायता दी।

प्रश्न 5– रीति और शैली पर विचार करते हुए, दोनों में प्रमुख अंतरों को रेखांकित कीजिए।

उत्तर– आजकल रीति और शैली का अर्थ भिन्न है, लेकिन प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य काव्य परम्पराओं का यदि हम गहरायी से अनुशीलन करें तो इनमें परस्पर गहरा साम्य दिखायी देता है। वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र में रीति का विवेचन हुआ है, जबकि पाश्चात्य काव्यशास्त्र में शैली का विवेचन हुआ है। आजकल शैली अंग्रेजी के शब्द स्टाइल (Style) का पर्याय है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इस शब्द पर विस्तार से विचार हुआ है। पाश्चात्य आचार्य प्लेटो शैली के तीन भेदों का उल्लेख करते हैं – सहज, विचित्र और मिश्र। यह वर्गीकरण रीति से एक हद तक मिलता है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के दूसरे महत्त्वपूर्ण आचार्य अरस्तु ने शैली के बाह्य रूप का विवेचन करते हुए, उसके दो भेदों की चर्चा की है – वाद शैली एवं साहित्य शैली। उन्होंने शैली के दो मूल गुणों का उल्लेख किया है – प्रसाद तथा औचित्य। भारतीय साहित्य शास्त्र में इन दोनों गुणों की चर्चा है। प्रसाद गुण की सत्ता की व्यापक स्वीकृति है और औचित्य पर कुन्तक जैसे विचारकों ने एक पूरा सिद्धान्त तक निर्मित किया। प्रायः संस्कृत के समस्त आचार्यों ने काव्य में औचित्य के महत्त्व को किसी–न–किसी रूप में स्वीकार किया है।

प्लेटो और अरस्तु के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी शैली का विवेचन रीति के आधार पर किया है। पहली शताब्दी ईसा पूर्व के विद्वान सिसरो ने शैली के अंतर्गत मुख्यतः चार गुणों की चर्चा की है – 1) उपयुक्त शब्द चयन 2) स्पष्टता 3) सामंजस्यपूर्ण पद रचना और 4) स्वर और व्यंजनों की मधुर योजना। इसके बाद डिमैट्रियस ने अपने ग्रन्थ 'ऑन स्टाइल' में शैली के चार भेद किए – सुन्दर, प्रसाद युक्त, ओजस्वी, उदात्त। इन चार भेदों में पहले तीन भेद भारतीय काव्यशास्त्र में माधुर्य, प्रसाद तथा ओज शैलियों से मेल खाते हैं। डिमैट्रियस द्वारा उल्लिखित उदात्त तत्त्व भारतीय काव्यशास्त्र में अलग से विवेचित नहीं है, यहाँ इसे ओज गुण के अंतर्गत् मान लिया गया है। 19 वीं शताब्दी में वर्ड्सवर्थ एवं दूसरे स्वच्छंदतावादी साहित्य विश्लेषकों ने सहज स्वाभाविक शैली के पक्ष में अपने विचार प्रकट किए तथा चेष्टापूर्वक प्रयुक्त शैली को साहित्य के लिए अनुपयुक्त ठहराया। क्रोचे ने शैली के स्वतंत्र अस्तित्व को सिरे से नकार दिया।

यूनानी काव्य मर्मज्ञों के बाद रोम के और उनके बाद फ्रांस और इंग्लैण्ड के अनेक काव्य मर्मज्ञों ने शैली के वस्तु रूप का विवेचन किया। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में शैली के मुख्यतः तीन पक्ष माने गए हैं। इन्हें बुद्धि पक्ष, राग पक्ष एवं कला पक्ष कहते हैं। बुद्धि पक्ष के अंतर्गत् उचित शब्द का प्रयोग आता है और स्पष्टता को उचित स्थान दिया जाता है। राग पक्ष में ओज, तीव्रता और ध्वन्यात्मकता का महत्त्व है। इसके माध्यम से कवि न केवल अपने विचारों को वरन् अपने उद्वेगों को भी व्यक्त करता है। कला पक्ष के अंतर्गत् संगीत, गति, लय, नाद, सौन्दर्य आदि की चर्चा की जाती है।

रीति और शैली के संदर्भ उल्लिखित विवेचनों से स्पष्ट है कि शैली एवं रीति के तत्त्व परस्पर मिल जाते हैं। वामन के श्लेष, प्रसाद, समाधि, समता आदि बुद्धि पक्ष के तत्त्व हैं। सुकुमारता, कान्ति आदि अर्थ गुण राग पक्ष के अंतर्गत् आते हैं। इसी तरह कुछ शब्द जैसे–ओज, उदारता, कान्ति, माधुर्य आदि कला पक्ष के तत्त्व हैं। इस तरह शैली के जो गुण पाश्चात्य विद्वानों ने बताए हैं वे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ही गुण भारतीय विद्वानों ने रीति के विवेचन में स्पष्ट किए हैं।

अब शैली के वैयक्तिक तत्त्व पर विचार करें। इस तत्त्व के दो रूप होते हैं – एक तो शैली द्वारा कवि की आत्माभिव्यंजना दूसरा पात्र अथवा परिस्थिति के साथ शैली का सामंजस्य। पहले रूप को विश्वसनीयता हासिल नहीं हुयी। भारतीय परंपरा आत्माभिव्यंजना के स्थान पर निर्वैयक्तिकता को अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है। दूसरा रूप हमारे साहित्य में सहज ही उपलब्ध है। वस्तुतः शैली को व्यक्तित्व से पृथक देखना संभव ही नहीं, क्योंकि साहित्य के साथ साहित्यकार का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और रागात्मक सम्बन्ध के आलोक में शैली से व्यक्तित्व को निकाल देना अत्यंत कठिन काम है। 'शैली' रीति का ही दूसरा रूप है, पर इस घनिष्ठ सम्बन्ध के बावजूद इनके बीच उपस्थित पृथकताओं को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। इनके बीच के अंतर इस प्रकार हैं –

1) रीति के कुछ भेद नियत किए जा सकते हैं, जबकि शैली के संदर्भ में यह संभव नहीं।
2) जहाँ रीति विषय सापेक्ष है, वहीं शैली व्यक्ति सापेक्ष।
3) रीति में सामाजिक दृष्टि महत्त्वपूर्ण है, जबकि शैली में रचनाकार की दृष्टि महत्त्वपूर्ण है।
4) रीति के लिए अध्ययन अभ्यास एवं प्रयत्न अपेक्षित है, जबकि शैली सहज स्वाभाविक रूपों को सूचित करती है।
5) रीति एक अर्थ में परम्परा का वहन करती है, जबकि शैली स्वच्छन्दता को महत्त्व देती है।

4.3 लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1 – 'रीति' क्या है ?

उत्तर– 'रीति' शब्द रीड्. धातु में क्तिन् प्रत्यय के संयोग से बना है। इस प्रकार इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ हुआ – मार्ग। संस्कृत वाड्.मय में इसके पर्याय के रूप में मार्ग, पन्थ, प्रस्थान आदि का प्रयोग मिलता है। हिन्दी में पद्धति, पंथ, तरीका, ढंग, गति, वीथिका, प्रणाली, शैली आदि इसके पर्यायवाची हैं। इस प्रकार काव्य रचना की विशेष प्रणाली 'रीति' हुयी। 'रीति' शब्द का भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा में सबसे पहला प्रयोग आचार्य वामन ने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' ग्रन्थ में किया। वामन ने गुणसम्पन्न रीति को काव्य की आत्मा कहते हुए सूत्र दिया – 'रीतिरात्मा काव्यस्य'।

प्रश्न 2 – आचार्य वामन के अनुसार 'रीति' को परिभाषित कीजिए।

उत्तर– 8 वीं शताब्दी में, आचार्य वामन ने काव्यशास्त्रीय संदर्भ में सबसे पहले 'रीति' शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने 'रीति' को काव्यात्मा कहते हुए, इस पद को परिभाषित किया – विशिष्ट पद रचना 'रीति' है। विशिष्ट का अर्थ है–गुण सम्पन्न विशेषो गुणात्मा। वामन कृत परिभाषा का अर्थ हुआ : शब्द तथा अर्थगत चमत्कार से युक्त पद रचना का नाम 'रीति' है। इसे और भी संक्षिप्त करना संभव है। 'शब्द तथा अर्थगत सौन्दर्य से युक्त' के स्थान पर केवल सुन्दर का प्रयोग किया जा सकता है। सुन्दर पद–रचना या सम्यक् पद–रचना का नाम 'रीति' है।

प्रश्न 3 – 'गुण' क्या हैं ? 'गुण' का 'रीति' की अवधारणा में क्या स्थान है ?

उत्तर– वामन के अनुसार, 'विशिष्ट पद रचना 'रीति' है। विशिष्ट का अर्थ गुण सम्पन्न है। वे काव्य के लिए गुण को अनिवार्य मानते हैं। वामन ने गुणों की संख्या दस मानी है। उनके अनुसार दस काव्य गुण हैं – माधुर्य, ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति। गुणों को वे शब्दार्थ का नित्य धर्म मानते हैं। आचार्य वामन शब्दगत तथा अर्थगत आधार पर गुणों का विवेचन करते हैं। जो शब्द गुण हैं वहीं अर्थगुण भी हैं। इस सन्दर्भ में कुछ विद्वान दोनों का योग करके गुणों की संख्या बीस भी मानते हैं। 'ओज' जब शब्दगुण होगा तब उसका अर्थ होगा शब्दों की सामासिक संघटना, और जब अर्थगुण होगा तो उसका तात्पर्य होगा – अर्थ गम्भीरता। उसी तरह 'प्रसाद' एक ओर शिथिल पद बन्ध का संकेत करता है तो दूसरी ओर अर्थ सरलता का। कुछ लोग गुण का मतलब दोष का अभाव बताते हैं। कुछ की दृष्टि में यह केवल काव्य कौशल है। साफ है कि गुणों के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। फिर भी वामन ने गुणों को रीति का आश्रित मानकर काव्य के संघटनात्मक पक्ष को नये ढंग से सामने रखा।

प्रश्न 4 – 'रीति' के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– वामन ने तीन प्रकार की रीतियों का उल्लेख किया – वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली। इन तीनों में वैदर्भी सर्वश्रेष्ठ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

एवं समस्त गुणों से विभूषित है। गौड़ीया में ओज और कान्ति गुण होते हैं। इसमें समास बहुलता की विशेषता निहित होती है। पांचाली का बन्ध श्लथ और शैली पौराणिक होती है। मधुरता और सुकुमारता इसकी विशेषताएँ हैं। रुद्रट ने एक और रीति की बढ़ोत्तरी की 'लाटीया'। राजशेखर वामन की रीतियों को ग्रहण करते हैं। बाद में एक और रीति 'मैथिली' का उन्होंने उल्लेख किया। गौड़ीया और पांचाली एक दूसरे की विरूद्ध रीतियाँ हैं। 'वैदर्भी' में दोनों का समन्वय उपस्थित होता है, दो विरोधों का सामंजस्य। इसलिए यह रीति श्रेष्ठ है।

प्रश्न 5 – 'रीतिरात्मा काव्यस्य' से आचार्य वामन का क्या अभिप्रेत है ?

उत्तर– 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के उद्घोषक आचार्य वमन ने 'रीति' को सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हुए 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में लिखा–

'विशिष्ट पद रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।'

रचना का सौन्दर्य 'रीति' पर आश्रित है। वामन का अभिप्रेत सिर्फ इतना है कि सम्यक् पदरचना का नाम रीति है। काव्य की आत्मा है रीति और रीति की आत्मा है गुण। गुण नित्य धर्म है, जबकि अलंकार अनित्य, लेकिन वामन ने गुण और अलंकार को शब्द अर्थ का धर्म माना है।

प्रश्न 6 – 'मार्ग' क्या है ? विभिन्न मार्गों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– आचार्य कुन्तक ने 'रीति' के भेदों के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया। कुन्तक ने इन भेदों को कवि स्वभाव से सम्बद्ध कर रचनाकार की शैली से जोड़ दिया। आचार्य कुन्तक ने तीन मार्गों का उल्लेख किया – 1) सुकुमार मार्ग 2) विचित्र मार्ग और 3) मध्यम मार्ग। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार संभव है –

1) सुकुमार मार्ग – आचार्य कुन्तक के अनुसार, इस मार्ग में प्रतिभा से उत्पन्न सहज नैसर्गिक गुणों का और विशेषताओं का समावेश होता है। इस मार्ग के भीतर जो विचित्रता या अलंकार आते हैं वे स्वाभाविक होते हैं। सरसता, भाव पूर्णता और स्वाभाविक वर्णन इस मार्ग की विशेषताएँ हैं।

22) विचित्र गार्ग – इरा गार्ग गें अलंकारों या कलात्गकता की शूगिका निर्णायक होती है। कई बार अलंकारों के बोझ से यह मार्ग बोझिल प्रतीत होने लगता है। प्रयत्न प्रसूत अलंकार इस मार्ग में रत्न–आभूषणों की कृत्रिमता का बोध कराने लगते हैं। इस मार्ग में वर्ण, शब्द और पदावली से चमत्कार उत्पन्न किए जाते हैं। इसमें अर्थ की वक्रता और उक्ति की विचित्रता होती है।

3) मध्यम मार्ग – 'मध्यम मार्ग' में 'सुकुमार' और विचित्र मार्ग की विशेषताओं का समन्वय होता है। इसमें किसी भी प्रवृत्ति का अतिरेक नहीं होता, यह एक संतुलित मार्ग है।

प्रश्न 7 – वैदर्भी रीति क्या है ?

उत्तर– विदर्भ आदि देशों में प्रचलित 'रीति' वैदर्भी मानी गयी है। यह रीतिकाव्य की सर्वोत्तम 'रीति' मानी गयी है। आचार्य दण्डी, श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि इन दस गुणों से युक्त रीति को वैदर्भी रीति मानते हैं। वामन ने भी इसे समस्त गुणों से युक्त माना है, परन्तु इसके साथ ही वे इसे वीणा के स्वरों की तरह मधुर और विलक्षण कान्ति से युक्त कहते हैं। 'साहित्यदर्पण' (आचार्य विश्वनाथ) के अनुसार, माधुर्य गुण की व्यंजना करने वाले वर्णों द्वारा समास रहित अथवा अल्प समास वाली रचना 'वैदर्भी रीति' कहलाती है।

उदाहरण के लिए,

'तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन
विकल होकर नित्य चंचल
खोजती जब नींद के पल
चेतना थक सी रही तब
मैं मलय की बात रे मन।' (जयशंकर प्रसाद–कामायनी)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 8 – 'गौड़ीया रीति' का उदाहरण सहित विवेचन कीजिए।

उत्तर– यह ओजपूर्ण शैली है। आचार्य दण्डी के अनुसार इसमें दसों गुणों का समावेश नहीं होता। आचार्य वामन ने इसे ओजकान्तिमयी शैली के रूप में ग्रहण किया है। इसमें उग्र पदों और समास की बहुलता होती है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में इसका विवेचन करते हुए कहा है, 'ओज गुण प्रकाशक वर्णों से युक्त उद्भट रचना, जिसमें समास और विद्वत्तापूर्ण पदों का अधिक प्रयोग होता है, 'गौड़ीया रीति' है। इसमें वर्गों के पहले और दूसरे, तीसरे और चौथे वर्णों के संयुक्त रूप, द्वित्व प्रयोग, टवर्ग, श–ष आदि की बहुलता एवं रेफ का संयुक्त दीर्घ प्रयोग होता है।

उदाहरण के लिए,

'शत घूर्णावर्त तरंग भंग, उठते पहाड़
जलराशि राशिजल पर चढ़ता खाता पहाड़
तोड़ता बन्ध प्रतिरूद्ध धरा हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।'

प्रश्न 9– आचार्य वामन ने परंपरा में किस रीति का समावेश किया ? उस रीति का उदाहरण सहित विश्लेषण कीजिए।

उत्तर– आचार्य वामन ने सबसे पहले 'पांचाली रीति' क उल्लेख किया। इस रीति का उल्लेख भामह और दण्डी ने नहीं किया है। वामन की 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' कृति के अनुसार, यह माधुर्य और सुकुमारता से सम्पन्न रीति है और अगठित, भावशिथिल, छायायुक्त, मधुर और सुकुमार गुणों से युक्त होती है। रुद्रट के मतानुसार पांचाली लघु समास वाली होती है। यह मध्यमा रीति है। उदाहरण के लिए यह काव्यांश देखा जा सकता है –

'माँझी न बजाओ वंशी मेरा मन डोलता
मेरा मन डोलता जैसे जल डोलता
जल का जहाज जैसे पल–पल डोलता
माँझी न बजाओ वंशी मेरा प्रण टूटता
मेरा प्रण टूटता है जैसे तृण टूटता
तृण का निवास जैसे बन–बन टूटता।'

प्रश्न 10 – 'रीति' और 'शैली' में कौन से मुख्य अंतर हैं ?

उत्तर– 'शैली' और 'रीति' में घनिष्ठ संबंधों के बावजूद कतिपय अन्तर लक्षित किए जा सकते हैं–
1) रीति के भेद निर्धारित किए जा सकते हैं, जबकि शैली के संदर्भ में यह संभव नहीं।
2) रीति विषय सापेक्ष है, जबकि शैली में व्यक्ति सापेक्षता का महत्त्व है।
3) रीति में सामाजिक दृष्टि की प्रमुखता मौजूद रहती है, जबकि शैली में कवि या रचनाकार की दृष्टि को प्रमुखता मिलती है।
4) रीति के निमित्त अध्ययन, अभ्यास और प्रयत्न अपेक्षित है, जबकि शैली सहज स्वाभाविक रूपों को सूचित करती है।
5) रीति जहाँ परम्परा का वहन करती है, वहीं शैली स्वच्छन्दता का।

4.4 अतिलघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1 – 'रीति' काव्य की आत्मा है, यह कथन किसका है ?
उत्तर– काव्य की आत्मा रीति है के उद्‌घोषक आचार्य वामन हैं।
प्रश्न 2 – वामन द्वारा निर्दिष्ट काव्य की आत्मा 'रीति' की 'आत्मा' क्या है ?
उत्तर– वामन द्वारा निर्दिष्ट काव्य की आत्मा 'रीति' की 'आत्मा' गुण है।
प्रश्न 3 – वामन के अनुसार गुणों की संख्या कितनी है ?
उत्तर– वामन के अनुसार गुणों की संख्या दस है।
प्रश्न 4 – 'रीति' के तीन प्रमुख प्रकारों का उल्लेख कीजिए।
उत्तर– 'रीति' के तीन प्रमुख प्रकार हैं – 1) वैदर्भी, 2) गौड़ीया, और 3) पांचाली।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 5 – माधुर्य और सुकुमारता गुण से सम्पन्न रीति का नाम लिखिए।
उत्तर– माधुर्य और सुकुमारता गुण से सम्पन्न 'पांचाली रीति' है।
प्रश्न 6 – गौड़ीया रीति में कौन से गुण सम्मिलित होते हैं ?
उत्तर– गौड़ीया रीति में ओज और कांति गुण सम्मिलित होते हैं।
प्रश्न 7 – सर्वश्रेष्ठ रीति किसे कहा जाता है ?
उत्तर– सर्वश्रेष्ठ रीति 'वैदर्भी' है।
प्रश्न 8 –.आचार्य मम्मट ने वैदर्भी रीति को किस नाम से पुकारा ?
उत्तर– आचार्य मम्मट वैदर्भी रीति को 'उपनागरिका वृत्ति' कहते हैं।
प्रश्न 9 – किस आचार्य ने 'रीति' को पद संघटना मात्र कहा ?
उत्तर– आचार्य विश्वनाथ ने 'रीति' को पद संघटना मात्र कहा।
प्रश्न 10 – आचार्य कुन्तक ने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीति को किस नाम से पुकारा ?
उत्तर– आचार्य कुन्तक ने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली के लिए क्रमशः सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग का प्रयोग किया।
प्रश्न 11 – वामन ने रीतियों के वर्गीकरण का क्या आधार माना ?
उत्तर– वामन ने रीतियों के वर्गीकरण का आधार भौगोलिक माना।
प्रश्न 12 – किस रीति को 'ग्राम्या' संज्ञा से भी अभिहित करते हैं ?
उत्तर– 'पांचाली रीति' को 'ग्राम्या' नाम से भी पुकारते हैं ।
प्रश्न 13 – आधुनिक विद्वान 'रीति' के लिए आमतौर पर किस पद का प्रयोग करते हैं ?
उत्तर– आधुनिक समकालीन विद्वान 'रीति' को 'शैली' भी कहते हैं।
प्रश्न 14 – रीतिवादी द्वारा निर्धारित दस गुणों की तुलना में मम्मट और ध्वनिवादी आचार्यों ने कितने गुण स्वीकार किए?
उत्तर– ध्वनिवादियों ने तीन गुण स्वीकार किए।
प्रश्न 15 – 'रौद्र रस' के अनुकूल कौन–सा गुण नहीं है ?
उत्तर– 'माधुर्य गुण' रौद्र रस के अनुकूल नहीं है।
प्रश्न 16 – चित्र का विस्तारक एवं दीप्तिकारक, वीभत्स और रौद्र रस में प्रकर्ष प्राप्त, समासयुक्त गदावली तथा संयुक्त वर्ण, टवर्ग, द्वित्व, रेफ आदि के प्रयोग से युक्त कौन–सा गुण है ?
उत्तर– उल्लिखित विशेषताएँ ओज गुण में पायी जाती हैं।
प्रश्न 17 – वह कौन–सा काव्यगुण है जो सभी रसों और रचनाओं में व्याप्त होता है ?
उत्तर– 'प्रसाद' काव्यगुण सभी रसों और रचनाओं में मौजूद हो सकता है।
प्रश्न 18 – 'दोषों का अभाव ही गुण है–महान निर्दोषिता गुणाः' किसने कहा ?
उत्तर– उक्त कथन आचार्य दण्डी का है।
प्रश्न 19 – आचार्य विश्वनाथ ने काव्यदोष की क्या परिभाषा दी ?
उत्तर– आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस का अपकर्षक काव्य दोष है –
'रसापकर्षका दोषाः।'
प्रश्न 20 –क्या अलंकार दोष काव्य दोष है ?
उत्तर– अलंकार दोष काव्य दोष नहीं है।
प्रश्न 21 –रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक कौन हैं ?
उत्तर– रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं।
प्रश्न 22 – आचार्य वामन ने रीति किसे कहा ?
उत्तर– आचार्य वामन के अनुसार 'विशिष्ट पद रचना रीति है।'

4.5 सारांश

आपने रीति सिद्धान्त की आधारभूत स्थापनाओं का विस्तृत अध्ययन किया। आचार्य वामन काव्य की आत्मा रीति कहते हैं। वे रीति को काव्य में विशिष्ट प्रकार का बन्ध कहते हुए विभिन्न प्रकार की रीतियों का उल्लेख भी करते हैं। आपने विभिन्न रीतियों में उपस्थित गुणों का भी अध्ययन किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 5

वक्रोक्ति सिद्धान्त

वक्रोक्ति की अवधारणा, वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद

संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 वक्रोक्ति के भेद
5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
5.4 लघु उत्तरीय प्रश्न
5.5 अति लघुउत्तरीय प्रश्न
5.6 सारांश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.0 प्रस्तावना :

वक्रोक्ति सिद्धान्त को एक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय दसवीं शताब्दी के आचार्य कुन्तक को दिया जाता है। उन्होंने परंपरा से प्राप्त रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, औचित्य का समाहार 'वक्रोक्ति' में इस तरह से किया कि यह सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक, वस्तुनिष्ठ एवं आधुनिक दृष्टिकोण से एक हद तक निकट बन गया। कुन्तक से पहले इस पद का व्यापक अर्थ में प्रयोग बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' में किया गया है। उनके यहाँ वक्रोक्ति का अर्थ हास–व्यंग्य गर्भित उक्ति है।

'काव्य' के निजी निकष की पहचान के क्रम में आचार्य भामह ने 'वक्रोक्ति' की व्याख्या छठी शताब्दी में अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में की। उन्होंने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों की जननी कहा। उन्होंने लोक व्यवहार से भिन्न अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति माना है और इसे अतिशयोक्ति का ही पर्यायवाची माना है। वे वक्रोक्ति को काव्यत्व का आधारभूत तत्त्व स्वीकार करते हैं। इस अध्याय में आप वक्रोक्ति सिद्धान्त से जुड़े विभिन्न पक्षों का सम्यक अनुशीलन करेंगे।

आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को काव्य जीवित कहा। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य व्यापार की समग्रता माना। आचार्य ने अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा अपने पूर्व के अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि तथा रस आदि प्रतिष्ठित सिद्धान्तों के स्थान पर एकदम नवीन 'काव्य सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया, उन्होंने 'वक्रोक्ति' को 'काव्य की आत्मा' कहा। आचार्य कुन्तक ने इसकी व्यापकता में सभी काव्य सिद्धान्तों का समाहार किया और साथ ही समस्त काव्यांगों वर्ण चमत्कार, शब्द सौन्दर्य, विषय वस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत विधान, प्रबन्ध कल्पना आदि को उचित स्थान दिया। आचार्य के अनुसार, वक्रोक्ति केवल वाक–चातुर्य अथवा उक्ति चमत्कार नहीं है, बल्कि वह कवि व्यापार अथवा कवि कौशल है। जहाँ रस सिद्धान्त अनुभूति अथवा भावना पर विशेष बल देता है, वहीं अलंकार सिद्धान्त मौलिक रूप से कवि कल्पना पर आधारित है। आचार्य कुन्तक ने अपने सिद्धान्त में एक हद तक समन्वयशीलता का निर्वाह किया है। वक्रोक्ति सिद्धान्त की उद्भावना के मूल में अलंकार सिद्धान्त की परंपरा के साथ ध्वनि सिद्धान्त की भी स्वीकृति है। उन्होंने रस की प्रतिष्ठा को भी ध्यान में रखा, इस तरह उनके सिद्धान्त में सम्पूर्ण काव्य को स्वीकृति मिली। कुन्तक के सिद्धान्त में बल भले ही कला पक्ष पर हो, पर उनकी विवेचना में वस्तु पक्ष तथा भाव पक्ष का पूरा समाहार हुआ। रस या भाव के दीप्त होने पर उक्ति में भी दीप्ति आ जाती है। इसलिए यह कहना तर्क संगत नहीं कि रस निष्पत्ति में वक्रता का अभाव हो सकता है – आचार्य कुन्तक की वक्रता वस्तुतः ऐसी ही वक्रता है। कुन्तक के सिद्धान्त की उल्लेखनीय विशेषता है – कवि प्रतिभा व कवि कौशल को काव्यगत अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार करना।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को परिभाषित करते हुए कहा, प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। अन्य शब्दों में इसके निर्वाह का आधार तत्त्व है – वैदग्ध्यपूर्ण शैली। वैदग्ध्य का अर्थ है – विदग्धता – कवि कर्म कौशल उसकी भंगिमा या शोभा (चारुता), उस पर आश्रित उक्ति। अन्य शब्दों में **विचित्र अभिधा का नाम ही वक्रोक्ति है।**

5.1 उद्देश्य

इस अध्याय के माध्यम से हम –

वक्रोक्ति की अवधारणा को समझ सकेंगे,

वक्रोक्ति के भेद उपभेदों का विश्लेषण कर सकेंगे,

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद में साम्य वैषम्य कर सकेंगे,

वक्रोक्ति सम्बन्धी आचार्य कुन्तक की अवधारणा को समझ सकेंगे।

5.2 वक्रोक्ति के भेद

वक्रोक्ति के छह भेद हैं – 1) वर्ण विन्यास वक्रता 2) पद पूर्वार्द्ध वक्रता 3) पद पदार्ध वक्रता 4) वाक्य वक्रता 5) प्रकरण वक्रता और 6) प्रबन्ध वक्रता। इन छह भेदों के आधार पर आचार्य कुन्तक ने काव्य संरचना को पूर्णता और समग्रता में विश्लेषित किया है। वर्ण शब्द का लघुत्तम खण्ड है और प्रबन्ध सबसे बड़ा।

'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' का विश्लेषण करते समय प्रायः क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' की भी चर्चा की जाती है। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन की परंपरा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शुरू की। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की व्याख्या क्रम में आचार्य शुक्ल ने कहा, और 'कलाओं को छोड़ यदि हम काव्य ही को लें तो इस अभिव्यंजनावाद को 'वाग्वैचित्र्यवाद' ही कह सकते हैं और इसे अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं'। लेकिन ग़ौरतलब बात यह है कि अभिव्यंजनावाद में वक्रोक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। क्रोचे के लिए सहजानुभूति ही अभिव्यक्ति है यानी इंट्यूशन ही एक्सप्रेशन है। अभिव्यंजनावाद में यह अभिव्यक्ति मनस लोक में ही पूर्ण हो जाती है। उसे रंग रेखा या शब्दों में बाँधने की अनिवार्यता नहीं है। लेकिन कुन्तक वक्रोक्ति से अलंकृत शब्द अर्थ के साहित्य की चर्चा करते हैं, मनोजगत् की काल्पनिक अभिव्यक्ति की नहीं, उसी तरह वे सहृदय की आह्लादकता का भी उल्लेख करते हैं, जबकि अभिव्यंजनावाद में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। पर इन दोनों सिद्धान्तों में कतिपय समानता भी है। दोनों ही अभिव्यंजना को कला मानते हैं। दोनों ने ही उसके दर्जे नहीं माने हैं। लेकिन दोनों की अभिव्यक्ति के स्वरूप में पर्याप्त अंतर है। **क्रोचे जहाँ मानसिक अभिव्यक्ति को आधार तत्त्व मानते हैं, वहीं कुन्तक कला के मानसिक रूप पर विचार नहीं करते।** आइए कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों के विश्लेषण के माध्यम से इस सम्प्रदाय को गहरायी से समझने का प्रयास करें।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1 – 'वक्रोक्ति' के स्वरूप का विवेचन कीजिए। एक सम्प्रदाय के रूप में वक्रोक्ति की परंपरा का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर– 'वक्रोक्ति' शब्द का सामान्य अर्थ है वक्र उक्ति अर्थात् टेढ़ी उक्ति। उक्ति की वक्रता का भाव यह है कि किसी बात को इस चमत्कारपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया जाय जो सहृदय के मन को आह्लादित करे। अपनी बात कहने के दो ढंग हैं – एक सामान्य और दूसरा विशिष्ट। आचार्य कुन्तक ने कहने के विशिष्ट ढंग को ही वक्रोक्ति से जोड़ने का प्रयास किया है। उन्होंने अपनी कृति 'वक्रोक्ति जीवितम्' में वक्रता का अर्थ 'प्रसिद्ध कथन से भिन्न' कहा है। बाणभट्ट ने 'कादम्बिरी' में वक्रोक्ति का तात्पर्य चमत्कारपूर्ण शैली कहा है। इस प्रकार वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अनुसार काव्य का सौन्दर्य उक्ति की विचित्रता एवं विशिष्टता में है, और आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'काव्य की आत्मा' के रूप में स्वीकृत और विश्लेषित किया है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय की परंपरागत पृष्ठभूमि – 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक हैं। आचार्य ने परंपरा से प्राप्त रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, औचित्य का समाहार प्रस्तुत सिद्धान्त में इस तरह से किया कि यह सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक, वस्तुनिष्ठ और आधुनिक दृष्टि के अधिक निकट हो गया। आचार्य ने अपने सिद्धान्त की स्थापना–विवेचना दसवीं शताब्दी में की। लेकिन उनके पूर्व भी यह परंपरा बीज रूप में उपस्थित रही। आचार्य भामह पहले व्यक्ति हैं जिन्होने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में काव्य का मूल उपादान वक्रोक्ति कहा। उन्होंने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति से अलग बताया और 'वक्रता' और अतिशयोक्ति को पर्याय माना। अन्य शब्दों में उन्होंने लोक व्यवहार से भिन्न अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति माना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भामह के बाद आचार्य दण्डी ने 'वक्रोक्ति' को काव्यत्व का आधारभूत तत्त्व माना और भामह की तरह ही इसे सभी अलंकारों का मूलाधार कहा। पर उन्होंने इसे एक सम्प्रदाय के रूप में विवेचित नहीं किया।

काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण और वक्रोक्ति सम्प्रदाय – आचार्य कुन्तक ने साहित्य को परिभाषित करते हुए लिखा –

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितो काव्यंतद्विदाल्हादकारिणी।।'

तात्पर्य है, काव्य मर्मज्ञों के आल्हादकारक, सुन्दर (वक्र) कवि व्यापार से युक्त रचना (बन्ध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं। उल्लिखित परिभाषा में साहित्य यानी शब्द अर्थ के सहभाव के लिए तीन विशेषण प्रयुक्त हुए हैं – वक्र प्रयोग, बन्ध में सुव्यवस्थित और मर्मज्ञों का आह्लाद। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के चार प्रमुख लक्षणों का विश्लेषण किया है। वे कहते हैं–

1) वक्रोक्ति भाषा शास्त्र, आदि शास्त्र तथा लोक–व्यवहार में प्रचलित सामान्य अभिधानों से भिन्न और विलक्षण होती है।
2) उसकी विलक्षणता कवि प्रतिभाजन्य चमत्कार से नियत होती है।
3) वह समस्त कवि व्यापार (रचना प्रक्रिया) वर्ण, पद, वाक्य, अर्थ, प्रसंग, प्रबन्ध आदि से सम्बन्धित होती है।
4) वह सहृदय को आह्लादित करने की सामर्थ्य रखती है।

वक्रोक्ति के भेद – आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छह भेद किए – 1) वर्ण विन्यास वक्रता 2) पद पूर्वार्द्ध वक्रता 3) पद पदार्ध वक्रता 4) वाक्य वक्रता 5) प्रकरण वक्रता और 6) प्रबन्ध वक्रता। उल्लिखित छह भेदों के आधार पर आचार्य ने काव्य संरचना को पूर्णता और समग्रता में आकलित किया। वर्ण शब्द का लघुतम खण्ड है, जबकि प्रबन्ध सबसे बड़ा।

उपभेद – आचार्य कुन्तक ने पद पूर्वार्द्ध को मूल शब्द की वक्रता कहा। इसके आठ भेद हैं– 1) रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता 2) पर्याय वक्रता 3) उपचार वक्रता 4) विशेषण वक्रता 5) संवृत्ति वक्रता 6) वृत्ति वक्रता 7) लिंग वैचित्र्य वक्रता 8) क्रियावैचित्र्य वक्रता

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद – रसवादी होने के कारण आधुनिक काल के शिखर आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को कुन्तक का 'वक्रोक्तिवाद' अच्छा नहीं लगा। उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की व्याख्या करते समय 'वक्रोक्तिवाद' और 'अभिव्यंजनावाद' का तुलनात्मक अध्ययन किया। यहाँ प्रसंगवश उनकी टिप्पणी उद्धृत की जा सकती है, 'और कलाओं को छोड़ यदि हम काव्य ही को लें तो इस 'अभिव्यंजनावाद' को 'वाग्वैचित्र्यवाद' भी कह सकते हैं और इसे अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का बिलायती उत्थान मान सकते हैं।' दोनों सिद्धान्तों की सूक्ष्म विवेचना उनमें समानता एवं असमानता के प्रसंगों को स्पष्ट करेगी। क्रोचे के सिद्धान्त अभिव्यंजनावाद में वक्रोक्ति का कोई प्रसंग समाहित नहीं है। क्रोचे सहजानुभूति को ही अभिव्यक्ति मानते हैं, अर्थात् इंट्यूशन ही एक्सप्रेशन है। यह अभिव्यक्ति मानसलोक में ही पूरी हो जाती है। उसे रंग–रेखा या शब्दों के माध्यम से प्रकट करना अनिवार्य नहीं। पर आचार्य कुन्तक 'वक्रोक्ति' से अलंकृत शब्द–अर्थ के साहित्य की चर्चा करते हैं। मनोजगत् की काल्पनिक अभिव्यक्ति की नहीं। इतना ही नहीं वे सहृदय की आह्लादकता का भी उल्लेख करते हैं, लेकिन अभिव्यंजनावाद में इसके लिए कोई स्थान नहीं है।

लेकिन इन दोनों सिद्धान्तों में कतिपय समानता के भी प्रसंग हैं। क्रोचे और आचार्य कुन्तक दोनों अभिव्यंजना को कला मानते हैं। दोनों ने उसके दर्जे को अस्वीकार किया है। पर दोनों की अभिव्यक्ति के स्वरूप में पर्याप्त अंतर है। जहाँ क्रोचे की अभिव्यक्ति मानसिक अभिव्यक्ति है, वहीं कुन्तक कला के मानसिक रूप पर विचार नहीं करते। क्रोचे की अभिव्यक्ति बाह्य रूपाकार ग्रहण करने पर नैतिकता आदि से सम्बद्ध हो जाती है और उनके विचारानुसार इससे कला की शुद्धता खण्डित हो जाती है।

निष्कर्षतः कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त वस्तुनिष्ठ काव्य मानदंड की दृष्टि से बेहद उल्लेखनीय है। उनकी आलोचनात्मक शब्दावली से यह बात प्रकट होती है कि वे काव्य को दर्शन से अलग करके उसके सही स्वरूप के उदघाटन के लिए प्रयासरत थे। अन्य अनुशासनों से काव्य को पृथक करके भामह, दण्डी, वामन की तरह ही वे भी काव्य की स्वायत्तता के जबर्दस्त समर्थक थे।

प्रश्न 2 – वक्रोक्ति के भेद–उपभेदों का व्यापक विश्लेषण कीजिए।

उत्तर– आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' में वक्रोक्ति के छः भेदों की विवेचना की है। उल्लिखित विभाजन में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आचार्य की वस्तुनिष्ठ चेतना और विभाजन कुशलता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वे भेद इस प्रकार हैं – 1) वर्ण–विन्यास वक्रता 2) पद पूर्वार्द्ध वक्रता 3) पद परार्ध वक्रता 4) वाक्य वक्रता 5) प्रकरण वक्रता 6) प्रबन्ध वक्रता।

वक्रोक्ति के इन भेदों का विश्लेषण इस प्रकार संभव है –

1) वर्ण–विन्यास वक्रता – जिसे अन्य आचार्य अनुप्रास कहते हैं, उसे आचार्य कुन्तक वर्ण–विन्यास वक्रता कहते हैं। यह वक्रता तीन प्रकार की होती है – एक वर्ण की आवृत्ति, दो वर्णों की आवृत्ति और तीन वर्णों की आवृत्ति। आचार्य कुन्तक ने कालान्तर में यमक को भी इसके अंतर्गत् मान लिया। यमक या यमकाभास से साम्य रखने वाले अन्य वर्ण चमत्कार वर्ण विन्यास वक्रता के अंतर्गत् आते हैं।

2) पद पूर्वार्द्ध वक्रता – यह वक्रता पद के पूर्व भाग में होती है। इसके अंतर्गत् पर्याय, रूढ़ि, उपचार, विशेषण, संवृत्ति, वृत्ति भाव, लिंग क्रिया आदि के प्रयोग की विधियों को रखा गया है। इस विभाजन के अनेक उपविभाजन भी किए गए हैं – रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता, पर्याय वक्रता, उपचार वक्रता, विशेषण वक्रता आदि। इन उपविभाजनों को थोड़ा और विस्तार से देखना आवश्यक है –

क) रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता – यह वक्रता वहाँ प्रयोग में लायी जाती है, जहाँ लोकोत्तर तिरस्कार या प्रशंसा कथन करने के अभिप्राय से वाच्यार्थ की रूढ़ि से असम्भव अर्थ का अध्यारोप या उत्तम धर्म के अतिशय का आरोप होता है।

ख) पर्यायवक्रता – इसमें चमत्कार तत्त्व प्रमुख होता है। अनेक पर्यायवाची शब्दों में सर्वोत्कृष्ट के प्रयोग की इसमें संभावना रहती है।

ग) उपचार वक्रता – उपचार वक्रता को आधुनिक शब्दावली में बिम्ब विधान कह सकते हैं। अमूर्त पर मूर्त का आरोप, अचेतन पर चेतन का आरोप आदि। इस वक्रता में लक्षणिकता के अपार वैभव की संभावना है। दो उदाहरण देखे जा सकते हैं –

अमूर्त पर मूर्त का आरोप इस काव्यांश में उपस्थित है –

'इस अनागत को करें क्या !
जो कि अक्सर
बिना सोचे, बिना जाने
सड़क पर चलते अचानक दीख जाता है।
किताबों में घूमता है,
रात की वीरान गलियों के बीच गाता है।
राह के हर मोड़ से होकर गुज़र जाता,
दिन ढले –
सूने घरों में लौट आता है।' – केदारनाथ सिंह

उसी तरह अचेतन पर चेतन के आरोप का यह उदाहरण –

'ओ फाल्गुनी आकाश !
तुम्हारे मुख मलूँ मैं
लाल रंग पलाश।
तुम उत्सव बनो
इसलिए
गृहपथ बुहारती फिर रही
यह फाल्गुनी वातास।' – नरेश मेहता

घ) विशेषण वक्रता – जहाँ कारक या क्रिया की विशेश्ता या प्रभाव से वाक्य का सौन्दर्य प्रकट होता है, वहाँ विशेषण वक्रता होती है।

ड.) लिंग वैचित्र्य वक्रता – जहाँ लिंग वैचित्र्य के द्वारा वक्रता लायी जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3) पद परार्ध वक्रता — यह वक्रता पद के बाद में प्रयुक्त होती है। इसे प्रत्यय वक्रता भी कहा जा सकता है। इसके अनेक प्रकारों का उल्लेख है — काल वैचित्र्य वक्रता, कारक वक्रता, संख्या वक्रता, पुरुष वक्रता, उपग्रह वक्रता, प्रत्यय वक्रता, पद वक्रता आदि।

4) वाक्य वक्रता — इस वक्रता का सम्बन्ध कवि प्रतिभा से है। प्रधानतः इसमें अलंकारों का विवेचन किया जाता है। आचार्य कुन्तक ने अलंकारों का अत्यंत सुन्दर विवेचन किया है। उन्होंने चारुता और कवि प्रतिभा दोनों के समन्वित रूप को अलंकार के अंतर्गत् सम्मिलित किया है। वस्तु की वक्रता भी वाक्य वक्रता के अंतर्गत् ही है, जिसका स्वरुप दो प्रकार का है — स्वभाव प्रधान एवं रस प्रधान।

5) प्रकरण वक्रता — वाक्यों की सम्मिलित स्थिति से प्रकरणों का निर्माण होता है। प्रबन्ध के सौन्दर्य के निर्वाह के लिए प्रकरण वक्रता अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

6) प्रबन्ध वक्रता — वाक्य से प्रकरण और प्रकरण से प्रबन्ध में यह वक्रता आती है। प्रबन्ध आद्योपांत इस वक्रता के सुन्दर निर्वाह से निर्मित होता है। प्रबन्ध वक्रता का सम्बन्ध मुक्तक से न होकर प्रबन्ध रचना से है। जहाँ प्रकरण वक्रता से तात्पर्य उन स्वतंत्र उद्भावनाओं से है जिनके द्वारा कवि मूलकथा में रमणीयता उत्पन्न कर देता है, वहीं प्रबन्ध वक्रता का सम्बन्ध प्रबन्ध कौशल से है। प्रबन्ध वक्रता में रस के उत्कर्ष का भी बड़ा महत्त्व माना गया है। प्रबन्ध वक्रता की सीमा में संघटनापरक समस्त काव्य—व्यापार आता है। प्रबन्ध स्वयं में पूरा सम्बद्ध और अन्वितिपूर्ण होता है। इस वक्रता के अंतर्गत् महाकाव्यों में आने वाले समस्त विवरण—वर्णन, सन्धियाँ आदि का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार आचार्य कुन्तक वक्रोन्ति के भेद की चर्चा करते समय वर्ण से शुरूआत करते हैं और प्रबन्ध तक पहुँचते हैं। वर्ण शब्द का लघुतम खण्ड है — प्रबन्ध सबसे बड़ा। वक्रोक्ति विभाजन में इन दोनों को सम्मिलित करते हुए इनके बीच पड़ने वाले विन्यासों को भी समाहित कर लिया है। वस्तुपरक काव्य मानदंड की दृष्टि से इन भेदों—उपभेदों की महत्ता असंदिग्ध है।

5.4 लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1— कुन्तक के वक्रोक्ति—काव्य जीवित का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर— वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य जीवित मानकर उसे काव्य व्यापार की समग्रता कहा। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन अथवा प्राण कहा। अब प्रश्न यह है कि वक्रोक्ति आखिर है क्या? ? आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति को परिभाषित करते हुए अपनी कृति 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम' में लिखते हैं — प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। विदग्धतापूर्ण शैली द्वारा उक्ति ही वक्रोक्ति है। वैदग्ध्य का अर्थ विदग्धता है— कवि कर्मकौशल, उसकी भंगिमा या शोभा (चारूता), उसपर आश्रित उक्ति।

आचार्य कुन्तक के विश्लेषण से स्पष्ट है कि लोकशास्त्र में व्यवहृत होने वाली शब्दावली से अलग कविजन्य व्यापार की भंगिमाओं से युक्त विचित्र अभिधा वक्रोक्ति है। इस प्रकार उन्होंने परंपरा से प्राप्त रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, औचित्य सबका समाहार वक्रोक्ति में कर लिया व वक्रोक्ति को काव्य का जीवन अथवा प्राण कहा।

प्रश्न 2— वक्रोक्ति और अभिव्यंजनवाद के साम्य—वैषम्य पर विचार कीजिए।

उत्तर— 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' की चर्चा करते समय प्रायः पाश्चात्य आलोचक क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' की चर्चा की जाती है। कतिपय आलोचकों ने दोनों सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के विवेचन क्रम मे क्रोचे के सिद्धान्त को पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान कहा। लेकिन क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का स्वरूप वक्रोक्ति के स्वरूप से भिन्न है। क्रोचे के लिए सहजानुभूति ही अभिव्यक्ति है अर्थात् इंट्यूशन ही एक्सप्रेशन है। उनके अनुसार यह अभिव्यक्ति मनस लोक में ही पूरी हो जाती है। उसे रंग रेखा या शब्दों में बाँधने की अनिवार्यता नहीं। कला बाह्य रूपाकार ग्रहण करने पर नैतिकता आदि से सम्बद्ध जो जाएगी व उसकी शुद्धता खण्डित हो जाएगी। इससे अलग कुन्तक वक्रोक्ति से अलंकृत शब्द अर्थ के साहित्य की चर्चा करते हैं, मनोजगत् की काल्पनिक अभिव्यक्ति की नहीं। आचार्य कुन्तक सहृदय की आह्लादकता का भी उल्लेख करते हैं, लेकिन क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में इसके लिए कोई स्थान नहीं। पर इन आलोचकों के सिद्धान्तों में कतिपय समानताएँ भी हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1) दोनों अभिव्यंजना को काव्य का प्राण तत्त्व मानते हैं।

2) दोनों ने काव्य में कल्पना तत्त्व को प्रमुखता दी है। और

3) दोनों ही कला की उत्कृष्टतम उपलब्धि सफल अभिव्यंजना मानते हैं।

प्रश्न 3– आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति का विवेचन किस प्रकार किया ?

उत्तर– 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहा। हालाँकि उन्होंने अपनी विवेचना में ध्वनि और अलंकार को भी महत्त्व दिया, लेकिन उनका सारा ज़ोर वक्रोक्ति पर है। उन्होंने वक्रोक्ति काव्य में शब्द और अर्थ, भाव और कला तथा आत्मा एवं शरीर इन दोनों के महत्त्व का वस्तुपरक विश्लेषण किया। उन्होंने वक्रोक्ति को स्पष्ट करते हुए कहा– 'कवि कर्म कौशल से उत्पन्न विचित्र कथन ही वक्रोक्ति कहलाती है।' अन्य शब्दों में जो काव्य तत्त्व किसी कथन में लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति कराए वही वक्रोक्ति है।

5.5 अति लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक कौन हैं ?

उत्तर– वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं।

प्रश्न 2– आचार्य कुन्तक की कृति का क्या नाम है तथा उसका रचना काल क्या है ?

उत्तर– आचार्य कुन्तक की कृति का नाम 'वक्रोक्ति काव्यजीवित' है जिसकी रचना 10 वीं शताब्दी में हुयी।

प्रश्न 3– वक्रोक्ति को काव्य का जीवन किसने कहा ?

उत्तर– आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य को जीवन कहा।

प्रश्न 4– वक्रोक्ति के किन छः विभाजनों का आचार्य कुन्तक ने उल्लेख किया ?

उत्तर– आचार्य कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति के छः भेद हैं –

1) वर्ण विन्यास वक्रता 2) पद–पूर्वाद्ध वक्रता 3) पद पदार्ध वक्रता

4) वाक्य वक्रता 5) प्रकरण वक्रता और 6) प्रबन्ध वक्रता।

प्रश्न 5– वक्रोक्ति क्या है ?

उत्तर– कवि जन्य व्यापार की भंगिमाओं से युक्त विचित्र अभिधा वक्रोक्ति है।

प्रश्न 6– पश्चिम के किस सिद्धान्त से वक्रोक्ति सिद्धान्त की तुलना की जाती है ?

उत्तर– क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' से आचार्य कुन्तक के 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' की तुलना की जाती है।

प्रश्न 7–हिन्दी के किस आलोचक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त और अभिव्यंजनवाद के तुलनात्मक अध्ययन की शुरूआत की ?

उत्तर– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की तुलना आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त से की।

प्रश्न 8– 'अभिव्यंजनावाद' को 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान किसने कहा ?

उत्तर– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा।

5.6 सारांश–

इस अध्याय में आपने 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' का विस्तृत अध्ययन किया। 10वीं शताब्दी के आचार्य कुन्तक ने इस सिद्धान्त की नींव डाली। उन्होंने अपनी रचना 'वक्रोक्ति काव्यजीवित' में अपने सिद्धान्त की व्यापक विवेचना की। वे कवि कर्म कौशल से उत्पन्न विचित्र कथन को वक्रोक्ति कहते हैं। कुछ आलोचक पश्चिमी काव्य सिद्धान्त 'अभिव्यंजनावाद' से वक्रोक्ति की तुलना करते हैं जो तार्किक नहीं है। आपने इन सभी पदों का विस्तृत अध्ययन किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 6

ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि का स्वरूप, ध्वनि सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ, ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद, गुणीभूत–व्यंग, चित्र काव्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संरचना

- **6.0 प्रस्तावना**
- **6.1 उद्देश्य**
- **6.2 ध्वनि क्या है?**
- **6.3 काव्य की आत्मा ध्वनि**
- **6.4 ध्वनि सिद्धान्त और काव्य के भेद**
- **6.5 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**
- **6.6 लघु उत्तरीय प्रश्न**
- **6.7 अति लघुउत्तरीय प्रश्न**
- **6.8 सारांश**

6.0 प्रस्तावना :

'ध्वनि सिद्धान्त' संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रौढ़ सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित है। भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त का महत्त्व दो दृष्टियों से है – रस को प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से और काव्यार्थ के प्रसंग में शब्द की नयी शक्ति – व्यंजना की प्रतिष्ठा की दृष्टि से। ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दवर्धन हैं। **काव्य–सिद्धान्त के रूप में 'ध्वनि' शब्द का सबसे पहला प्रयोग 'ध्वन्यालोक' (रचनाकाल 875 ई.) ग्रन्थ में हुआ, जिसके रचनाकार आनन्दवर्धन हैं।** 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ पर अभिनवगुप्त ने 'लोचन' नामक भाष्य लिखकर उसे और भी तर्कसंगत प्रामाणिक और निर्दोष बना दिया। अद्भुत विश्लेषण क्षमता से संपन्न ध्वनिवादी आचार्यों मम्मट, पंडितराज जगन्नाथ ने अपने विवेचन क्रम में इस सिद्धान्त का व्यापक आख्यान किया। ध्वनि सम्प्रदाय के आदि आचार्य आनन्दवर्धन विवेच्य की गहराई तक पहुँचने में बेजोड़ थे। पर यह भी उल्लेखनीय है कि अपनी विलक्षण मेधा के कारण उन्होंने जहाँ–तहाँ बाल की खाल निकालने के परिणामस्वरूप इस सिद्धान्त को जटिल और कर्मकांडीय बना दिया है। हज़ारों भेद–उपभेद इस दिशा के सूचक हैं। इस अध्ययन में आप ध्वनि सिद्धान्त से जुड़े विभिन्न पक्षों का अध्ययन करें।

आनन्दवर्धन ने रस को प्रबन्ध और मुक्तक दोनों में समान रूप से प्रतिष्ठित किया और रस ध्वनि को सर्वोत्तम काव्य की संज्ञा दी।

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' की पहली कारिका में कहा है – 'काव्य की आत्मा ध्वनि है, ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है।' लेकिन आचार्य भरतमुनि से रुद्रट तक किसी आचार्य ने अपने विवेचन में ध्वनि का उल्लेख नहीं किया है। 'ध्वन्यालोक' के टीकाकार अभिनवगुप्त के सामने भी यह समस्या थी। अभिनवगुप्त का कथन है कि विद्वत मंडली में ध्वनि सिद्धान्त चर्चित होता रहा है और मौखिक रूप से वह परम्परा आनन्दवर्धन तक चलती रही, यद्यपि अभिनवगुप्त का यह कथन प्रमाणित नहीं होता, फिर भी ध्वन्यालोक का अंतः साक्ष्य एक हद तक इस कथन को पुष्ट करता है। दूसरी तरफ अनेक आलोचकों का यह मानना है कि 'ध्वन्यालोक' एक मौलिक ग्रन्थ है, और आनन्दवर्धन का कथन उनकी विनम्रता है। आइए कुछ विस्तार से इस सिद्धान्त का अध्ययन करें।

6.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से हम–

1. ध्वनि के स्वरूप को समझ सकेंगे,
2. ध्वनि सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाओं को जान सकेंगे,
3. ध्वनि काव्य के प्रमुख भेदों का अध्ययन कर सकेंगे,
4. ध्वनि सिद्धान्त के प्रमुख अवदान को समझ सकेंगे।

6.2 ध्वनि क्या है?

वैयाकरण जिसे स्फोट सिद्धान्त कहते हैं, वहीं ध्वनि सिद्धान्त है। स्फोट का अभिप्राय है 'स्फूटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः' अर्थात् जिस शब्द से अर्थ अभिव्यक्त होता है वह स्फोट है। जैसे– घट शब्द का जब हम उच्चारण करते हैं तो 'घ' के उच्चारण के बाद 'ट' का उच्चारण होता है और जब हम 'ट' का उच्चारण करते हैं तो 'घ' शून्य में विलीन हो जाता है और दोनों का साथ उच्चारण संभव नहीं। इसलिए वैयाकरणों ने नित्य शब्द की कल्पना की और उसे स्फोट का नाम दिया। वर्ण नष्ट हो जाता है, ध्वनि अथवा स्फोट शेष रहता है, यही कारण है जैसे–जैसे वर्ण उच्चरित होता है वैसे–वैसे स्फोट स्पष्ट होता जाता है, अन्तिम वर्ण के उच्चारण के बाद सभी स्फोट समवेत् होकर शब्दार्थ को प्रकट करते हैं।

6.3 काव्य की आत्मा ध्वनि

आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा 'ध्वनि' कहा। 'ध्वन्यालोक' में आनन्दवर्धन ने ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार दी, जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वान लोग 'ध्वनि' (काव्य) कहते हैं। इस परिभाषा का अभीष्टार्थ है कि विद्वान उस काव्य को ध्वनि कहते हैं, जिसमें कथित शब्द और अर्थ अपने को अप्रधान बनाकर व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। वैसे देखा जाय तो किसी भी शब्द अथवा वाक्य से कोई–न–कोई व्यंग्यार्थ तो निकाला ही जा सकता है लेकिन क्या सभी व्यंग्यार्थ को काव्य कहा जा सकता है, उत्तर है नहीं। चमत्कारी व्यंग्य ही काव्य के रूप में समादृत हो सकता है। महाकवियों की कृतियों में यह चमत्कारी व्यंग्य एक विलक्षण अर्थ ही होता है।

6.4 ध्वनि सिद्धान्त और काव्य के भेद

आनन्दवर्धन ने व्यंग्यार्थ की दृष्टि से काव्य के तीन भेद किए –

1) उत्तम काव्य – इसे ध्वनि काव्य की भी संज्ञा दी गयी। इस कोटि में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक उत्कृष्ट होता है।

2) मध्यम काव्य – मध्यम काव्य को गुणीभूत काव्य कहा गया है, कारण यह है कि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान उत्कृष्ट अथवा निकृष्टतर होने की स्थिति में गौण या कम महत्त्व का हो जाता है।

3) अधम काव्य – अधम काव्य को चित्र काव्य कहा गया है, इसमें किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ नहीं रहता एवं मात्र अलंकारों का कौतुक उपस्थित रहता है। आनन्दवर्धन के अनुसार इस तीसरे भेद को काव्य न कहकर काव्य अनुकृति ही समझना चाहिए।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

6.5 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– ध्वनि के स्वरूप का विवेचन करते हुए, ध्वनि सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर– भारतीय काव्यशास्त्र में 'ध्वनि सिद्धान्त' प्रौढ़ सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित है। काव्य शास्त्रीय परंपरा में ध्वनि सिद्धान्त रस को प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से व व्यंजना की खोज की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धन हैं। उन्होंने अपनी कृति 'ध्वन्यालोक' (675 ई.) में ध्वनि सिद्धान्त की न सिर्फ सूक्ष्म विवेचना की, बल्कि काव्य प्रतिमानों को भी नयी और प्रौढ़ दृष्टि से परखने का प्रयास किया।

ध्वनि का स्वरूप – व्याकरण सिद्धान्त का स्फोट सिद्धान्त ही ध्वनि सिद्धान्त है। सामान्यतः जिस नाद को हम कानों से सुनते हैं, उसे ध्वनि कहते हैं। काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों ने उसका व्यवहार कई अर्थों में किया है। इन आचार्यों के अनुसार ध्वनि शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों में हो सकता है। अभिनवगुप्त की व्याख्या के संदर्भ में उनका उल्लेख इस तरह हुआ है–

1) जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक शब्द ध्वनि है।
2) ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3) जो ध्वनित किया जाए वह ध्वनि है। इसके अंतर्गत् व्यंग्यार्थ के तीनों रूप – रस, वस्तु और अलंकार आ जाते हैं।

4) जिसके द्वारा ध्वनित किया जावे वह ध्वनि है। इसमें शब्द अर्थ के चमत्कार, व्यंजन आदि शक्तियों का बोध होता है। और 5) जिसमें वस्तु, अलंकार और रसादि ध्वनित हो उस काव्य का नाम ध्वनि है।

काव्य की आत्मा ध्वनि – आनन्दवर्धन ने अपनी प्रतिष्ठित रचना 'ध्वन्यालोक' में घोषणा की 'काव्य की आत्मा ध्वनि है।' ध्वनि को परिभाषित करते हुए कहा, 'जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वान लोग 'ध्वनि काव्य' कहते हैं।' अन्य शब्दों में, **उस काव्य को ध्वनि कहते हैं, जिसमें कथित शब्द और अर्थ अपने को अप्रधान बनाकर व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं।**

ध्वनि सिद्धान्त की पूरी इमारत शब्द शक्तियों पर खड़ी की गयी है। यही कारण है कि सभी आचार्यों ने शब्द शक्तियों का विस्तृत विश्लेषण किया है। कतिपय आलोचकों का मानना हैं व्यंजना व्यापार को मान्यता देने के विचार से ही ध्वन्याचार्यों ने वैयाकरणों के स्फोटवाद की शरण ली थी। सिद्धान्ततः व्यंजना व्यापार ही ध्वनि सिद्धान्त की आधारशिला है। व्यंग्यार्थ के महत्त्व के दृष्टिकोण से ध्वनि सिद्धान्त के आदि आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य के तीन भेदो का उल्लेख किया –

1) उत्तम काव्य – वह ध्वनि काव्य जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थों से अधिक उत्कृष्ट हो।

2) मध्यम काव्य – इसे 'गुणीभूत व्यंग्य' की संज्ञा भी दी गयी है। इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होने के कारण गौण या कम महत्त्व वाला हो जाता है।

3) अधम काव्य – इसे 'चित्र काव्य' भी कहते हैं। इसमे किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ नहीं रहता और मात्र अलंकार कौतुक की उपस्थिति होती है।

ध्वनि सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ – ध्वनि सम्प्रदाय ने काव्य के बाह्य पक्ष की अपेक्षा आन्तरिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया। व्यंग्यार्थ की प्रतिष्ठा इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी उपलब्धि है। व्यंग्यार्थ के महत्त्व को आधार मानकर आनन्दवर्धन ने काव्य के तीन भेद किए – उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य, मध्यम काव्य या गुणीभूत व्यंग्य, अधम काव्य या चित्र काव्य। इन तीनों प्रकार के काव्यों के बड़े ही सूक्ष्म और पाण्डित्यपूर्ण विश्लेषण के आलोक में हज़ारों भेद–उपभेद किए गए एवं ध्वनि के विस्तृत व सार्वभौम सिद्धान्त के भीतर सभी पूर्ववर्ती स्थापनाओं को समन्वित करने का प्रयास किया गया।

ध्वनि सिद्धान्त में ध्वनि काव्य के दो प्रधान भेद किए गए –

1) अविवक्षित वाच्य ध्वनि – यह लक्षणा पर आधारित है और इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा (कहने की इच्छा) नहीं रहती है। या तो वाच्यार्थ दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है या फिर पूरी तरह तिरस्कृत हो जाता है। दोनों ही स्थितियों में मुख्यार्थ का अतिक्रमण कर व्यंग्यार्थ की प्रतिष्ठा होती है।

2) विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि – यह अभिधा पर आधारित है और इसमें मुख्यार्थ की विवक्षा रहती तो है, किन्तु वह अन्य पर होती है, अर्थात् वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को प्रकाशित करता है। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति का क्रम जहाँ अलक्षित रहा है, वहाँ असंलक्ष्य क्रम ध्वनि होती है। भाव एवं रस आदि की व्यंजनाएँ असंलक्ष्य क्रम ध्वनि में ही समाविष्ट हो जाती है। फिर पूरा रस सिद्धान्त ध्वनि की विशाल अवधारणा में समाविष्ट हो जाता है। विभाव, अनुभाव आदि व्यंजक हैं और रस व्यंग्य है।

आनन्दवर्धन ने रस ध्वनि को सर्वोष्कृष्ट स्थान प्रदान किया। उन्होंने रस ध्वनि को अंगी कहा और रीति, गुण, दोष और अलंकार को उसके अंतर्गत् शामिल किया। ये तभी चमत्कार उत्पन्न कर सकते हैं, जब ये रस ध्वनि की भाँति अभिव्यंजित होते हैं।

आनन्दवर्धन के पहले रस को या तो रसवत् अलंकार के रूप में रखा गया था या नाट्य के प्रसंग में 'विभानुभावव्यभिचारी संयोगात् रसनिष्पतिः' कहकर उसे वस्तुनिष्ठ और आस्वाद्य कहा गया। विभाव आदि को प्रबंध काव्यों में ढूँढ़ना संभव है, पर मुक्तकों में रस के समस्त अवयवों का मिलना ख़ासा मुश्किल है। रस को व्यंग्य मान लेने से मुक्तकों में भी रस की स्थिति स्वीकार की है। कहना न होगा आनन्दवर्धन ने रस को प्रबन्ध और मुक्तक दोनों में समान रूप से प्रतिष्ठित किया एवं रस ध्वनि को सर्वोत्तम काव्य की संज्ञा दी। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने अपनी मौलिक स्थापना से दो महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं से भारतीय काव्यशास्त्र को समृद्ध किया। **रस की प्रतिष्ठा व व्यंग्यार्थ की स्वीकृति।** साहित्यिक सन्दर्भ में इन दोनों निष्पत्तियों की प्रतिष्ठा असंदिग्ध है।

प्रश्न 2 – ध्वनि काव्य के प्रमुख भेदों का निरूपण कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उत्तर– ध्वनिवादियों ने काव्य की तीन कोटियों का निर्धारण किया – 1) ध्वनि काव्य 2) गुणीभूत व्यंग्य और 3) चित्र काव्य। पहली श्रेणी या उत्तम कोटि में ध्वनि काव्य का स्थान है। गुणीभूत व्यंग्य मध्यम श्रेणी का काव्य है और चित्र काव्य निकृष्ट (अधम) कोटि का काव्य। ध्वनि काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चामत्कारिक होता है। जहाँ व्यंग्यार्थ उत्कृष्ट होने पर भी वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चमत्कारक हो वहाँ गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति होती है। चित्र या अधम काव्य में व्यंग्यार्थ का अभाव होता है। ध्वनि काव्य व्यंग्यार्थ पर आश्रित होता है एवं व्यंग्यार्थ का आधार लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ होता है। इसी को आधार मानकर ध्वनि के दो मुख्य भेद किए गए – 1) लक्षणामूलक ध्वनि (अविवक्षित वाच्य ध्वनि), 2) अभिधामूलक ध्वनि (विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि)।

इनका विस्तार से अध्ययन इस प्रकार संभव है –

1) लक्षणामूलक ध्वनि अथवा अविवक्षित वाच्य ध्वनि – यह लक्षणा पर आधारित है और इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा (कहने की इच्छा) नहीं रहती है। इस विभाजन में वाच्यार्थ या तो दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है अथवा पूर्णतया तिरस्कृत हो जाता है। इन दोनों स्थितियों में मुख्यार्थ बाधित हो दूसरा या विलक्षण अर्थ देने लगता है। इसे ही उपविभाजन के अंतर्गत् क्रमशः क) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि और ख) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि कहते हैं।

2) अभिधा मूला ध्वनि अथवा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि – यह अभिधा पर आधारित है और इसमें मुख्यार्थ की विवक्षा रहती तो अवश्य है, पर वह अन्य पर होती है, अर्थात् वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को प्रकाशित करता है। इस विभाग के दो उपविभाग हैं –

क) असंलक्ष्य क्रम ध्वनि – वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति का क्रम जहाँ अलक्षित रहता है, वहाँ असंलक्ष्य क्रम ध्वनि होती है। भाव और रस आदि की व्यंजनाएँ असंलक्ष्य क्रम ध्वनि में ही समाविष्ट हो जाती है। इस युक्ति से ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने सम्पूर्ण रस सिद्धान्त को ध्वनि की विशाल अवधारणा में समाविष्ट कर लिया। ध्वनि में रस को अन्तर्निहित करने का सबसे बड़ा तर्क यह है कि रस और भाव जैसी मानसिक स्थितियाँ अनिर्वचनीय हैं, शब्द द्वारा उन्हें प्रकट करना संभव नहीं, उनकी व्यंजना ही संभव है। विभाव, अनुभाव आदि व्यंजक हैं और रस व्यंग्य है।

ख) संलक्ष्य क्रम ध्वनि – संलक्ष्य क्रम ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति का क्रम लक्षित रहता है एवं इसके अंतर्गत् वस्तु एवं अलंकार की व्यंजनाएँ होती हैं, जो या तो शब्द की या फिर अर्थ की अथवा शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियों से उत्पन्न हुआ करती हैं। इस तरह इस विभाग के दो उपविभाग हैं – वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि।

इस प्रकार उत्तम काव्य अथवा ध्वनि काव्य के सार्वभौम सिद्धान्त के अंतर्गत् रस ध्वनि की सर्वश्रेष्ठता ही नहीं प्रकट होती, बल्कि समस्त पूर्ववर्ती आचार्यों की गवेषणाओं के विच्छिन्न सूत्रों को सर्वोत्कृष्ट ध्वनि रस से अन्तः सम्बन्धित करके काव्य मर्मज्ञों–जिज्ञासुओं के समक्ष एक अत्यंत पूर्ण, व्यापक और सर्वमान्य काव्य सिद्धान्त उपस्थित कर दिया गया। ध्वनि सिद्धान्त के बाद प्रतिपादित होने वाले 'वक्रोक्तिवाद' एवं 'औचित्यवाद' भी इस सिद्धान्त के काव्य लक्षणों की परिधि से बाहर नहीं जा सके और न ही कोई परवती आचार्य इसके मूल स्वरूप पर आघात कर पाए।

ध्वनि सिद्धान्त के उल्लिखित विभाजनों को निम्नांकित वंश वृक्ष के माध्यम से और भी स्पष्टता से समझा जा सकता है –

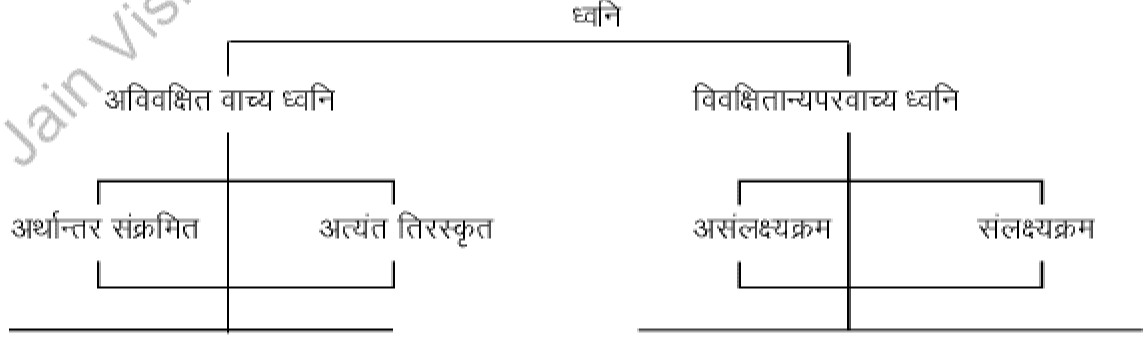

पद तथा वाक्य द्वारा व्यंग्यार्थ ध्वनित होने के कारण दोनों के चार भेद हैं।

पद, पदांश, वाक्य, प्रबन्ध, वर्ण और रचना द्वारा व्यंग्यार्थ द्योतित होने के कारण छः भेद हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6.6 लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– ध्वनि सिद्धान्त के प्रमुख अवदान क्या हैं ?

उत्तर– 'ध्वनि सिद्धान्त' के प्रवर्तक आनन्दवर्धन हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि काव्य की विशेषताओं और सैद्धान्तिक निष्पत्तियों का विशद् और तार्किक विश्लेषण किया। काव्यशास्त्रीय परंपरा में ध्वनि सिद्धान्त का महत्त्व मूलतः दो दृष्टियों से आँका जाता है। रस को प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से व काव्यार्थ के प्रसंग में शब्द की नवीन शक्ति 'व्यंजना' की खोज की दृष्टि से। इन दोनों अवधारणाओं में आज के साहित्यिक संदर्भ में दूसरे का महत्त्व अधिक है। आनन्दवर्धन के पहले रस या तो रसवत् अलंकार के अंतर्गत् माना गया या नाट्य–प्रसंग में 'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगात् रसनिष्पतिः' कहकर उसे वस्तुनिष्ठ या आस्वाद्य कहा गया। प्रबन्ध काव्यों में विभाव, अनुभाव आदि को खोजना एकदम सरल है, लेकिन मुक्तकों में रस के समस्त अवयवों का मिलना संभव नहीं। रस को व्यंग्य मान लेने पर मुक्तकों में भी उसकी स्वीकार हो गयी। कहना न होगा आनन्दवर्धन ने रस को प्रबन्ध और मुक्तक दोनों में समान रूप से प्रतिष्ठित किया व रस ध्वनि को सर्वोत्तम काव्य कहा।

प्रश्न 2– ध्वनि क्या है ?

उत्तर– जिसे व्याकरण ग्रन्थों में स्फोट–सिद्धान्त कहा गया, वही ध्वनि सिद्धान्त है। स्फोट को परिभाषित किया गया – 'स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः' अर्थात् जिस शब्द से अर्थ फूटता है, अभिव्यक्त होता है, वह स्फोट है। स्फोट शब्द का होता है, वाक्य का होता है – यहाँ तक कि समस्त प्रबन्ध का भी होता है। शब्द स्फोट का एक उदाहरण इस प्रकार देखा जा सकता है। शब्द है–घट। घट में 'घ' के उच्चारण के बाद 'ट' वर्ण का उच्चारण किया जाता है। जब 'घ' का उच्चारण होता है, उस समय 'ट' का उच्चारण हो ही नहीं सकता। लेकिन जब 'ट' का उच्चारण होता है उस समय 'घ' उच्चरित होकर शून्य में विलीन हो चुका होता है। ऐसी स्थिति में 'घ' और 'ट' का उच्चारण एक ही समय में सम्भव नहीं। अतः वैयाकरण एक नित्य शब्द की कल्पना करते हैं, जिसे स्फोट कहते हैं। अर्थ बोध पृथक–पृथक वर्णों से न होकर स्फोट से होता है। इसे ही 'ध्वनि' कहते हैं। अन्तिम वर्ण से स्फोट अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, जिससे पूर्ववर्ती वर्णों के संस्कार संपृक्त हो जाते हैं।

प्रश्न 3– ध्वनिवादियों द्वारा व्याख्यायित व्यंग्यार्थ के महत्त्व की दृष्टि से काव्य–कोटियों का वर्णन करें।

उत्तर– ध्वनिवादियों ने काव्य की तीन कोटियाँ बतायी हैं –

1) ध्वनि काव्य (उत्तम काव्य) – इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक उत्कृष्ट होता है।

2) गुणीभूत व्यंग्य (मध्यम काव्य) – इसे गुणीभूत काव्य कहा गया है, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान उत्कृष्ट अथवा निकृष्टतर होने के कारण गौण या कम महत्त्व वाला हो जाता है।

3) चित्र काव्य (अधम काव्य) – इसे चित्र काव्य कहा गया है, इसमें किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ नहीं रहता और केवल अलंकारों का ही कौतुक उपस्थित रहता है। वे सभी अलंकार, जिनमें व्यंग्यार्थ का सर्वथा अभाव रहता है, इसी भेद के अंतर्गत् शामिल हैं। आनन्दवर्धन इस भेद को काव्य न कहकर काव्यानुकृति समझने की सलाह देते हैं।

प्रश्न 4– ध्वनि काव्य के दो प्रमुख विभाजन कौन हैं ?

उत्तर– ध्वन्याचार्यों ने ध्वनि काव्य के दो प्रधान भेद किए हैं –

1) अविवक्षितवाच्यध्वनि – यह लक्षणा पर आधारित है और इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा (कहने की इच्छा) नहीं रहती है। इस कोटि में वाच्यार्थ या तो दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है या पूर्णतया तिरस्कृत हो जाता है। दोनों ही स्थितियों में मुख्यार्थ बाधित रहता है एवं अन्य अर्थ देने लगता है।

2) विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि – यह अभिधा पर आधारित है और इसमें मुख्यार्थ की विवक्षा रहती तो अवश्य है, किन्तु वह अन्य पर होती है, अर्थात् वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को प्रकट करता है। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति का क्रम जहाँ अलक्षित रहता है, वहाँ असंलक्ष्य क्रम ध्वनि होती है। भाव, रस आदि की व्यंजनाएँ इसमें समाविष्ट हो जाती हैं। इस अवधारणा के कारण ध्वनि सम्प्रदाय में सम्पूर्ण रस सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो गया।

विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि के दूसरे भेद संलक्ष्यक्रमध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति का क्रम लक्षित रहता है और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इसके अंतर्गत् वस्तु और अलंकार की व्यंजनाएँ होती हैं, जो या तो शब्द की या अर्थ अथवा शब्द, अर्थ दोनों शक्तियों से उद्भूत हुआ करती हैं। इसलिए विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि के अंतर्गत् रस, वस्तु एवं अलंकार की व्यंजनाओं का स्वरूप दिखायी देता है।

6.7 अति लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक कौन हैं ?

उत्तर– ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन हैं।

प्रश्न 2– 'ध्वनि सम्प्रदाय' के आधार ग्रन्थ का नाम रचनाकार सहित लिखिए।

उत्तर– 'ध्वनि सम्प्रदाय' का आधार ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है और इसके रचनाकार आचार्य आनन्दवर्धन हैं।

प्रश्न 3– 'ध्वन्यालोक' पर आधारित अभिनवगुप्त की कृति का नाम लिखिए।

उत्तर– 'ध्वन्यालोक' पर आधारित अभिनवगुप्त की कृति 'लोचन' है।

प्रश्न 4– 'ध्वनि सिद्धान्त' व्याकरण ग्रन्थों के किस सिद्धान्त पर आधारित है ?

उत्तर– व्याकरण ग्रन्थों का स्फोट सिद्धान्त ही ध्वनि सिद्धान्त है।

प्रश्न 5– 'ध्वनि सम्प्रदाय' के अनुसार उत्तम कोटि का काव्य कौन है ?

उत्तर– 'ध्वनि सम्प्रदाय' के अनुसार उत्तम कोटि का काव्य 'ध्वनि काव्य' है। इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चामत्कारिक होता है।

प्रश्न 6– ध्वनि सम्प्रदाय मध्यम श्रेणी का काव्य किसे कहता है ?

उत्तर– ध्वनि सम्प्रदाय मध्यम श्रेणी का काव्य गुणीभूत व्यंग्य को मानता है। इसमें व्यंग्यार्थ उत्कृष्ट होने पर भी वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चामत्कारिक होता है।

प्रश्न 7– चित्र–काव्य क्या है ?

उत्तर– ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार यह निकृष्ट कोटि का काव्य है। इसमें किसी तरह का व्यंग्यार्थ नहीं होता। इसमें अलंकार कौतुक ही सब कुछ होता है।

प्रश्न 8– 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरित बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः' किसने कहा ?

उत्तर– आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक की पहली कारिका में ही कहा – **'काव्यस्यात्मा ध्वनिरित बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।'** अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है, ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है।

प्रश्न 9– ध्वनि कहाँ होती है ?

उत्तर– प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि को परिभाषित करते हुए बतलाया गया है कि जहाँ शब्द और अर्थ गौण होकर दूसरे अर्थ (व्यंग्य अर्थ) को प्रकाशित करते हैं, वहाँ 'ध्वनि' होती है।

प्रश्न 10– रस आदि की गणना ध्वनि काव्य के किस विभाजन के अंतर्गत् होती है।

उत्तर– रस आदि की गणना ध्वनि काव्य के असंलक्ष्यक्रम के अंतर्गत् होती है।

प्रश्न 11– लक्षणामूलक ध्वनि किसे कहते हैं ? इसके भेदों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– अविवक्षितवाच्यध्वनि को लक्षणामूलक ध्वनि कहते हैं। इसके दो भेद हैं – संक्रमित एवं अत्यंत तिरस्कृत वाच्य।

6.8 सारांश–

आपने 'ध्वनि सम्प्रदाय' के सिद्धान्त विवेचन क्रम में उत्तम काव्य की एक प्रमुख विशेषता को गहरायी से समझा। व्यंजना शब्द शक्ति, स्फोट सिद्धान्त आदि शब्दावली से भी आप बखूबी परिचित हुए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 7

औचित्य सिद्धान्त

प्रमुख स्थापनाएँ, औचित्य के भेद

संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 औचित्य सिद्धान्त का इतिहास
7.3 औचित्य क्या है?
7.4 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
7.5 लघु उत्तरीय प्रश्न
7.6 अति लघुत्तरीय प्रश्न
7.7 सारांश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7.0 प्रस्तावना :

औचित्य–सिद्धान्त का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस, रीति, अलंकार और ध्वनि के सिद्धान्तों की ख़ासी प्रतिष्ठा रही है। इन सम्प्रदायों के आचार्यों ने काव्य की आत्मा का विवेचन अपने सैद्धान्तिक आग्रहों के साथ किया। पर इन सभी सम्प्रदायों की चर्चा करते समय 'औचित्य सिद्धान्त' की महत्ता को भुलाया नहीं जा सकता। हाँ यह अवश्य है कि यदि रस, अलंकार, ध्वनि, रीति और वक्रोक्ति के सन्दर्भ में औचित्य का विचार किया जाय तो यह एक सामान्य तथा अगंभीर सिद्धान्त प्रतीत होगा। शायद यही कारण है कि स्वयं आचार्य क्षेमेन्द्र अपनी पुस्तक को 'औचित्य विचार–चर्चा' कहते हैं। न यह मीमांसा है और न विमर्श महज चर्चा है। क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त का महत्त्व चर्चित को व्यवस्थित करने में है। इस अध्याय में आप औचित्य सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाओं एवं औचित्य के भेद से रू–ब–रू होंगे।

7.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययन से –

1. औचित्य सिद्धान्त के मूलस्वरूप को जान कर सकेंगे,
2. औचित्य सिद्धान्त की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
3. औचित्य के भेदों को समझ सकेंगे, और
4. औचित्य की महत्व को प्रतिपादित कर सकेंगे।

7.2 औचित्य सिद्धान्त का इतिहास

'औचित्य विचार चर्चा' में आख़िर आचार्य क्षेमेन्द्र ने किस चर्चित को विश्लेषित किया। इसके लिए काव्यशास्त्र के इतिहास पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है। औचित्य का बीज भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में मिल जाता है। रस के लिए वे अनुकूल पात्र, वेश–भूषा, अभिनय आदि का विधान आवश्यक समझते हैं। उनके अनुसार, 'अदेश में, जो जिसका देश नहीं है, पहना जाने वाला आभूषण शोभा विधायक नहीं होता। मेखला को गले में धारण करने वाला उपहास का पात्र होगा।' इसकी अनुगूंज क्षेमेन्द्र के यहाँ इस प्रकार दिखती है, 'कंठ में करधनी, कटि में झिलमिलाता हार, हाथों में नुपूर और पैरों में केयूर पहनने से तथा शौर्य से प्रणत शत्रु पर करूणा करने से कौन हँसी का पात्र नहीं होता। औचित्य के बिना न अलंकारों की शोभा है न गुणों की।' यहाँ यह आसानी से समझा जा सकता है कि क्षेमेन्द्र का यह श्लोक, भरत की चेतना का ही विस्तार है। आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' और कुंतक के 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' में 'औचित्य शब्द का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। आनन्दवर्धन रस के साथ–साथ वस्तु औचित्य और अलंकार औचित्य का विश्लेषण करते हैं। कुन्तक ने ध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य, प्रबंध आदि के औचित्य पर विचार किया है। प्रबंध और प्रबंध वक्रता

में भी 'औचित्य' एक अनिवार्य तत्त्व है।

इस प्रकार क्षेमेन्द्र के पहले भी इस प्रकृति पर विचार की परंपरा रही। हाँ, उन्होंने पूर्व प्रचलित चर्चाओं को न सिर्फ व्यवस्थित रूप दिया, अपितु उनके विश्लेषण प्रस्तुत सिद्धान्त को विस्तार दिया।

7.3 औचित्य क्या है?

औचित्य को परिभाषित करते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा कि औचित्य का जो भाव है, वही उचित है। जिस वस्तु में सादृश्य की क्षमता होती है, वही उचित है। 'उचित' का भाव जिसमें होता है, वहीं औचित्य है। यह औचित्य रस का जीवित या प्राण है और चामत्कारिक भी है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में पद, वाक्य प्रबंधार्थ, गुण–अलंकरण, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार–संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम आदि के औचित्य के विषय में चर्चा की है।

7.4 दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– क्षेमेन्द्र के 'औचित्य सिद्धान्त' को विश्लेषित कीजिए। इसकी महत्ता, आवश्यकता एवं विशेषताओं को निरूपित कीजिए।

उत्तर– आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' ग्रन्थ लिखकर औचित्य को एक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया। क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के शिष्य थे। अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ 'लोचन' में आत्मा और जीवित का समानार्थक शब्दों की भाँति प्रयोग किया। लेकिन क्षेमेन्द्र ने रस को 'काव्यात्मा' और औचित्य को 'जीवित' कहा और इन दोनों पदो के अलग–अलग वैशिष्ट्य को स्वीकार किया। उन्होंने औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, काल, देश आदि की तरह माना। उन्होंने इसी तरह के अन्य प्रकार के औचित्य की भी गुंजाईश का संकेत किया।

'अलंकार' वहीं सार्थक और सुन्दर लगता है, जब वह उचित स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है। जिन काव्य गुणों की चर्चा की जाती है, वे भी औचित्य के कारण ही गुण बनते हैं। ऐसा लगता है कि अनौचित्य से हास्य उत्पन्न होता है, पर हास्य की सृष्टि के समय अनौचित्य ही औचित्य कहलाता है। संस्कृत कवि माघ ने लिखा है, 'सुगन्धित काष्ठ का धूम्र भी मधुर होता है। सुन्दरियों का अविनय भी आनन्द का कारण होता है। साधारणतः लज्जा स्त्रियों का आभूषण समझा जाता है किन्तु सुरतकाल में जिस तरह धृष्टता आनन्ददायिनी है, उसी प्रकार हास्य में अनौचित्य ही औचित्य का रूप धारण कर आनन्द प्रदान करता है।'

रस और ध्वनि के साथ औचित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्षेमेन्द्र के अनुसार, रस भी औचित्य के अभाव में रस निष्पत्ति नहीं कर सकता है। ध्वनि की सत्ता भी औचित्य के अभाव में रस भंग का कारण बन जाती है। पण्डितराज जगन्नाथ इसका विन्यास करते हुए कहते हैं, 'जिस प्रकार शरबत आदि किसी तरह वस्तु में किरकिर गिर जाने के कारण वह खटकने लगता है, उसी प्रकार रसानुभव में जिन–जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रय, व्यवस्था, स्थिति और व्यवहार आदि सांस्कृतिक पदार्थों के विषय में जो लोक और शास्त्र के सिद्ध एवं उचित द्रव्य गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना।'

उल्लिखित विमर्शों से यह तथ्य उद्‌धाटित होता है कि औचित्य सिद्धान्त के समर्थक अपने सिद्धान्त की व्यापकता में ध्वनि, रस, रीति और अलंकार संबधित निष्पत्तियों का समावेश कर लिया है।

औचित्य के भेद – आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के विभिन्न भेदों की चर्चा अपने ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' में की है। उन्होंने भेदों की संख्या सत्ताईस बतायी है। वे इस प्रकार हैं :– पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विश्लेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद। ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध औचित्य को प्रबन्ध ध्वनि नाम दिया।

औचित्य सिद्धान्त के समर्थक व्याख्याकार आचार्यों ने काव्य में रस परिपाक का मूल तत्त्व औचित्य माना। रसवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने क्षेमेन्द्र की तरह औचित्य को रस का मूल यानी प्राण कहा है।

औचित्य की महत्ता एवं उसकी आवश्यकता – औचित्य को कला और साहित्य में विवेक का निर्धारक तत्त्व माना गया है। औचित्य की महत्ता एवं उसकी आवश्यकता पर औचित्य समर्थक आचार्यों ने विचार किया है। 'रस' परिपाक उचित स्थान पर हो तो रस आनन्द का निमित्त होता है, अन्यथा वह विषाद का कारण होता है। काव्य दोष रहित हो, गुणयुक्त हो, अलंकारों से मण्डित हो, वक्रोक्ति से विभूषित हो, लेकिन यदि उचित स्थान पर उचित रूप से इनका नियोजन न हो तो सब बेकार है। कहना न होगा औचित्य के बिना काव्य काव्य नहीं बन सकता। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस सिद्ध काव्य को जीवन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का औचित्य माना। 'औचित्य रस सिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवनम्' रस सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही है। इस प्रकार काव्य का अस्थिर जीवन गुण और अलंकार आदि हो सकते हैं, लेकिन उनके जीवन में स्थिरता लाने वाला तत्त्व औचित्य ही है।

औचित्य की समाज सापेक्षता का सम्बन्ध एक अर्थ में समाज प्रचलित नैतिकता से भी है। औचित्य का अन्तिम निर्णायक सामाजिक या सहृदय है, क्योंकि औचित्य समाज में अनुमोदित व्यवहार है। कविता में जब औचित्य का निर्वाह हो तो उसकी सार्थकता और सुंदरता कई गुना बढ़ जाती है। काव्य दोषों का न्र्धािरण औचित्य निर्वाह के आलोक में ही स्पष्ट होता है। दोष, गुण तथा अलंकार का रूप स्थिर न होकर समय, परिस्थिति और प्रसंग के साथ जुड़ा है, और इसका निर्णय औचित्य निर्वाह से सिद्ध होगा।

औचित्य सिद्धान्त की विशेषताएँ – इस सिद्धान्त की काव्यात्मक एवं व्यावहारिक विशेषताओं को संक्षेप में इस तरह समझा सकता है–

1) औचित्य का अर्थ उचित का भाव है। यह एक सामाजिक एवं व्यावहारिक सिद्धान्त है।

2) इस सिद्धान्त में प्रसंग, परिस्थिति, भाव और विचार के आलोक में उचित के निर्वाह का प्रयास होता है।

3) आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसके व्यावहारिक पक्ष के सन्दर्भ में लिखा, जिस प्रकार जीवन में उचित अनुचित का विवेक आवश्यक है उसी तरह काव्य में भी इस विवेक की महत्ता असंदिग्ध है।

4) क्षेमेन्द्र ने इस सिद्धान्त की व्यापकता में काव्य के सभी प्रभावी एवं सुन्दर पक्षों का समावेश किया है।

प्रश्न 2– औचित्य के भेदों पर विचार कीजिए।

उत्तर– आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य के विभिन्न प्रकारों पर विचार किया है। उनके अनुसार जैसे काव्य के विविध अंग हैं, वैसे ही औचित्य के भी भेद होते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने सत्ताईस प्रकार के औचित्यों का विवेचन किया है। औचित्य के ये भेद हैं – पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विश्लेषण, उपसर्ग, निर्यात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद। आनन्दवर्धन जो वक्रोक्ति सम्प्रदाय के जनक हैं, उनकी दृष्टि में प्रबन्ध औचित्य प्रबन्ध ध्वनि है।

रस और औचित्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है। रसवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने क्षेमेन्द्र की भाँति औचित्य को रस का मूल स्वीकार किया है। औचित्य के विभिन्न भेदों में कतिपय उदाहरण महत्त्वपूर्ण हैं –

1) क्रियागत औचित्य :– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूरदास के पदों की व्याख्या करते समय 'भ्रमरगीत सार' के निम्नांकित पद में क्रियागत औचित्य के दर्शन किए –

'नन्द ब्रज लीजै ठोकि बजाइ,
देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राम।'

इस पद्यांश में 'ठोकि बजाइ' की व्यंजना अत्यंत मारक है। तुम अपना ब्रज अच्छी तरह सम्भालो, तुम्हें इसका गहरा लोभ है, मैं तो जाती हूँ।

2) अलंकारगत औचित्य :– अलंकारों का प्रयोग तभी सार्थक और सुन्दर है, जब उसका प्रयोग उचित स्थान पर हो। इस उचित के अभाव को अलंकारगत् अनौचित्य की संज्ञा दी जाती है। तुलसी ने अलंकारगत औचित्य का निर्वाह निम्नांकित पंक्तियों में दक्षतापूर्वक किया है :–

'सुन्दरता कहँ सुन्दर करई।
छविग्रह दीपशिखा जनु वरई।।'

3) स्वभावोक्ति का औचित्य :– यथार्थवादी चित्रण में इस औचित्य की उपस्थिति होती है। निराला ने परवर्ती रचनाओं में इसका बड़ा मारक बिंब प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए :–

'जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ऐ विप्लव के वीर।
चूस लिया है उसका सार
हाड़–मात्र ही है आधार
एक जीवन के पारावार।'

4) पृष्ठभूमि का औचित्य – जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' की कथा के आरम्भ में वातावरण की भूमिका या प्रभावी पृष्ठभूमि के औचित्य को इस प्रकार निरूपित किया है :–

'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह
एक पुरूष भींगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।'

5) भावावेश औचित्य – भावावेश औचित्य का एक प्रभावी उदाहरण तुलसीदास की निम्नांकित काव्य पंक्तियाँ हैं :–

'हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी,
तुम देखी सीता मृगनयनी।'

राम का खग, मृग से प्रिया सीता का पता पूछना उनके भावावेश जन्य औचित्य का प्रतीक है। यदि खग, मृग इस बात का उत्तर देने लगते तो अनौचित्य हो जाता। जायसी के पद्मावत में इस तरह के प्रसंगों की भरमार है। केशव के काव्य में भी ऐसे उदाहरण बहुतायत में हैं। राम के मुँह की उपमा उलूक से देने में अनौचित्य ही है या राम का कौशल्या को पतिव्रत धर्म का उपदेश देना भी ऐसा ही है।

इस तरह के अन्य औचित्य भेदों का उल्लेख भी मिल जाता है, जैसे–अनुकृति औचित्य। प्रधानतः उल्लिखित भेदों की ही चर्चा की जाती है।

7.5 लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– 'औचित्य' क्या है ? आनन्दवर्धन द्वारा विवेचित औचित्य प्रकार का नाम लिखिए।

उत्तर– औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में रस को 'काव्यात्मा' और औचित्य को 'जीवित' कहा। औचित्य को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा औचित्य का जो भाव है, वही औचित्य है। जो वस्तु जिसके साथ सादृश्य रखती हो, वहीं 'उचित' है। इसी 'उचित' का जिसमें भाव है, वह है औचित्य। क्षेमेन्द्र ने सत्ताईस प्रकार के औचित्यों का विवेचन किया हैं – पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विश्लेषण, उपसर्ग, निर्यात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद। इन सभी का उन्होंने विस्तृत विवेचन किया है।

प्रश्न 2– 'औचित्य सिद्धान्त' की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– औचित्य सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार संभव हैं –

1) औचित्य का अर्थ उचित का भाव है।

2) यह एक सामाजिक एवं व्यावहारिक सिद्धान्त है।

3) इस सिद्धान्त में प्रसंग, परिस्थिति, भाव एवं विचार के अनुकूल शैली शिल्प की आयोजना को महत्त्व दिया गया है।

4) आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस सिद्धान्त की विवेचना करते हुए कहा – जीवन में जिस प्रकार उचित–अनुचित का विवेक आवश्यक है, उसी तरह काव्य में भी। ऐसा कहकर उन्होंने जीवन और साहित्य के संबंधों पर भी अपनी वैचारिक स्थिति स्पष्ट की।

5) आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस सिद्धान्त के अंतर्गत् सभी प्रकार के औचित्यों को समाविष्ट करने की कोशिश की।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7.6 अति लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तक कौन हैं ?

उत्तर– औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं।

प्रश्न 2– क्षेमेन्द्र की सैद्धान्तिक पुस्तक का नाम लिखें।

उत्तर– क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में अपने सिद्धान्तों की विवेचना की।

प्रश्न 3– औचित्य का सबसे पहला उल्लेख कहाँ मिलता है ?

उत्तर– हालाँकि भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में औचित्य का उल्लेख किया है, पर वह दृश्य काव्य के आलोक में विश्लेषण है। सैद्धान्तिक रूप से काव्यशास्त्रीय प्रसंग में इसका सर्वप्रथम प्रयोग रुद्रट ने किया है।

प्रश्न 4– आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के कितने भेदों की चर्चा की है ?

उत्तर– आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के सत्ताईस भेदों की चर्चा की है।

प्रश्न 5– औचित्य को जीवित और रस को काव्यात्मा किसने कहा ?

उत्तर– क्षेमेन्द्र ने रस को काव्यात्मा और औचित्य को जीवित कहा।

7.7 सारांश–

आपने विस्तारपूर्वक क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त क आलोक में काव्य विवेक अर्जित किया। क्षेमेन्द्र ने औचित्य के विभिन्न संदर्भों की चर्चा और व्याख्या कर व्यापक साहित्यिक परिदृश्य के आकलन का प्रयास किया, जिसे आपने बखूबी समझा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–2 : पाश्चात्य काव्यशास्त्रा

इकाई : 8

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

प्लेटो (427–327 ई. पू.) काव्य सिद्धान्त

संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 प्लेटों की रचनाएँ
8.3 प्लेटों के काव्य सिद्धान्त
8.4 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
8.5 लघु उत्तरीय प्रश्न
8.6 अति लघु उत्तरीय प्रश्न
8.7 सारांश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8.0 प्रस्तावना

प्लेटो एथेंस के पतन काल के दौरान के विचारक हैं। यूनान के एथेंस में पराजय के बाद आध्यात्मिक दिवालियेपन का माहौल सक्रिय था, जिसमें हर तरफ प्रवंचना, अवसरवादिता, तुच्छ स्वार्थपरता, विश्वासघात और असुरक्षा की उपस्थिति थी। कहते हैं प्लेटो का आदर्शवाद समकालीन समाज के इसी पतन की गहरी प्रतिक्रिया का परिणाम है।

प्लेटो के माता–पिता ने उन्हें अरिस्तोक्लीस नाम दिया, लेकिन उनके युद्ध कौशल प्रशिक्षक गुरू ने उनके शरीर को लक्षित कर नाम दिया 'प्लातोन' अर्थात् चौड़ा चकला। इसे ही अरबी–फारसी में 'अफ़लातून' कहा गया और अन्यत्र प्लेटो। 18–20 वर्ष की आयु में प्लेटो सुकरात के सम्पर्क में आए और उनसे शिक्षा–दीक्षा ग्रहण की। जनश्रुतियों के अनुसार बारह वर्ष तक प्लेटो देश–देशान्तर में घूम–घूमकर विभिन्न मतों–सिद्धान्तों का अध्ययन मनन करते रहे। यायावरी जीवन बिताकर और ज्ञान सम्पन्न होकर वे चालीस वर्ष की प्रौढ़ आयु में एथेंस लौटे। एथेंस में उन्होंने जिस अकादमी की स्थापना की, वह यूरोप का पहला विश्वविद्यालय कहलाया। इस अध्याय में आप प्लेटों के रचना संसार और साहित्यिक सिद्धान्त का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

8.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से हम–

1. प्लेटों का परिचय एवं उसकी रचनाओं की जानाकारी प्राप्त कर सकेंगे,
2. प्लेटों के काव्य सिद्धान्त का अर्थ समझ सकेंगे,
3. काव्य सम्बन्धी प्लेटों की सीमाओं को जान सकेंगे, और
4. प्लेटों की काव्य सम्बन्धी देन को समझ सकेंगे।

8.2 प्लेटो की रचनाएँ

युवा प्लेटो की रूचि काव्य रचना में थी। सुकरात के सम्पर्क में आकर उन्होंने काव्य सृजन छोड़ दिया। 'ऑक्सफोर्ड बुक ऑफ ग्रीक वर्क्स' में उनकी कविताओं के कुछ अंश उपलब्ध हैं। प्लेटो की कुल 28 रचनाओं का ज़िक्र मिलता है, जिनमें 27 संवाद और 11 पत्रों का एक संग्रह है। कतिपय संवाद जीवन के लंबे काल तक सृजित हुए हैं, जैसे–'पोलितेइया' एवं 'रिपब्लिक'। काव्य और कला के संबंध में उन्होंने किसी स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना नहीं की। जिन संवादों में काव्य या कला की चर्चा की गयी, उनमें उल्लेखनीय हैं – इओन, सिंपोसियोन, फएद्रस, पोलितइया, नोमोई आदि।

प्लेटो के संवाद द्वन्द्वात्मक शैली में रचित हैं, जो अनौपचारिकता, तर्क कर्कशता और चित्रात्मकता से युक्त हैं। संवादों की अद्‌भुत शैली काव्यशास्त्र के इतिहास में अमर हैं। आइए प्लेटों के सिद्धान्तों का व्यापक अध्ययन करें।

8.3 प्लेटो के काव्य सिद्धान्त

प्लेटो की चिन्ता के केन्द्र में आदर्श राज्य निर्माण धुरी है। यही कारण है कि उनके कला सम्बन्धी विचार भी नागरिकों की शिक्षा के सन्दर्भ में व्याख्यायित हैं। 'गणतंत्र' के दूसरे अध्याय में उन्होंने व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास के लिए संगीत (ललित कला) की आवश्यकता पर बल दिया।

कला के संदर्भ में उन्होंने अनुकरण (माइसेमिस) शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द का प्रयोग उन्होंने दो संदर्भों में किया – विचार–जगत और गोचर–जगत के मध्य संबंध की व्याख्या के लिए एवं वास्तविक जगत और कला जगत के बीच संबंध निरूपण के लिए। इसमें पहले का सम्बन्ध तत्त्व–मीमांसा से है और दूसरे का नैतिकता से। साहित्य के सन्बन्ध में प्लेटो सत्यता के प्रश्न को अनावश्यक समझते हैं। वे अनुकरण को कल्पना के विरूद्ध तथ्यपरकता की प्रतिष्ठा नहीं मानते। उन्होंने अहितकर सत्य या वास्तविकता के विरूद्ध हितकर कल्पना या असत्य का समर्थन किया। उनकी दृष्टि राज्य के भावी नागरिकों की शिक्षा पर केन्द्रित थी, यही कारण है कि उन्होंने ऐसे विषयों को अनुकरणीय माना जिनसे सद्‌मूल्यों में आस्था पैदा हो। वे विवेकहीन, अपरिपक्व, मन पर दुष्प्रभाव डालने वाले साहित्य के निषेध को आवश्यक मानते हैं। वे साहित्य को नैतिक संस्कार से जोड़ने का पक्ष लेते हैं। 'गणतंत्र' के आरंभिक अध्यायों के विचार प्रणाली में नैतिकता का प्रश्न इतनी मज़बूती से उठा है कि वह कलागत अवधारणा से अधिक नैतिक अवधारणा प्रतीत होता है। गणतंत्र के आरंभिक अध्यायों में प्लेटो ने काव्य का निषेध अनुकरण के कारण नहीं, बल्कि अनैतिक होने के कारण किया है। गणतंत्र के दसवें अध्याय में उन्होंने वस्तु जगत के माध्यम से विचार जगत् और कला जगत् के बीच संबंध की व्याख्या की है। उनके अनुसार, 'मूल सत्य अमूर्त ज्ञान रूप विचार होता है, वस्तु–सत्य उसका ज्ञान–प्रसूत मूर्त रूप है, और कलाकृति धारणा–प्रसूत आभास मात्र। जो अंतर सत्य और असत्य के बीच है, ज्ञान और धारणा के बीच है, वही अस्तित्व और आभास के बीच है। कला की प्रकृति अनुकरणात्मक है, अतः असत्यमूलक है। उसमें सत्य का अंश केवल शुभ के रूप में रहता है। उनकी दृष्टि में कविता का सत्य इसी में है कि वह जीवन के शुभ का अनुकरण करे। और इस तरह दसवें अध्याय की व्याख्या काव्य सत्य के प्रश्न से जूझती है। प्लेटो अनुकरणधर्मी कलाओं के सन्दर्भ में तीन मानकों के निर्धारण की बात करते हैं –

क) अनुकरण का विषय क्या है?

ख) वह सत्य है अथवा नहीं? साथ ही उसे शब्द, स्वर और लय के माध्यम से भली–भाँति निष्पादित किया गया है या नहीं।

प्लेटो के कलात्मक विश्लेषणों का सार है–

1) प्रत्यय जगत् यथार्थ है, ईश्वर उसका स्रष्टा है।

2) वस्तु–जगत् यथार्थ का अनुकरण है, ईश्वर उसका स्रष्टा है।

3) कला–जगत् वस्तु–जगत का अर्थात् अनुकरण का अनुकरण है, कलाकार उसका अनुकर्ता है।

8.4 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– प्लेटो के काव्य सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।

उत्तर– पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आदि आचार्य प्लेटो ने अरस्तु की तरह कोई काव्यशास्त्र नहीं लिखा। प्लेटो के काव्य–सम्बन्धी सिद्धान्त तीन ग्रन्थों – आयोन, फएद्रस और रिपब्लिक (गणतंत्र) में बिखरे पड़े हैं। इन ग्रन्थों में यत्र–तत्र बिखरे विश्लेषणों के आधार पर प्लेटो के काव्य–सिद्धान्त का खाका स्पष्ट किया जा सकता है –

कविता विषयक विचार – प्लेटो के अनुसार, सत्य वह है जो समाज और व्यक्ति के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को बल दे। इसके विरोध में जो कुछ भी हो उसे वे असत्य मानते हैं। वे काव्य को भी इसी कसौटी पर परखते हैं। अपने युग में प्रचलित काव्य–कृतियों में प्लेटो ने अनुदात्त और अवांछनीय तत्त्व अधिक पाया। यही कारण है वे अपनी मनोवृत्तियों के आलोक में कविता के सत्य को वास्तविक सत्य नहीं मानते। वे कविता को अज्ञान से उत्पन्न मानते हैं। उनका मत है कि कवि जिस वस्तु का अनुकरण करता है, उसकी प्रकृति से परिचित नहीं होता। जैसे पलंग का चित्र बनाने वाला चित्रकार मूल पलंग की प्रकृति से न तो पूरी तरह परिचित होता है और न उसका स्वरूप ही सचाई से अंकित कर पाता है, इसी तरह त्रासदी लेखक न तो अपने अनुकार्य की प्रकृति से परिचित होता है और न उसका स्वरूप ही अंकित कर पाता है। अतः उसका अनुकरण अज्ञान–जन्य होता है और उसका सत्य भ्रामक। प्लेटो के विचार सिद्धान्त के अनुसार जो भी रूपाकार मेज, कुर्सी आदि दिखाई पड़ता है, उसके मूल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

में सार्वभौम रूपाकार या आइडिया होता है। उनके अनुसार, कला अनुकृति की अनुकृति है। इसलिए वह वास्तविकता से दो बार दूर है। वे अनुकृति की अनुकृति कहकर ही सन्तोष नहीं करते। वे मुख्यतः तीन आरोपों के साथ उपस्थित होते हैं –

क) कलाकार का स्थान बढ़ई आदि से हीन है।
ख) वह जिस वस्तु का अनुकरण करता है उसके वास्तविक उपयोग और प्रकृति को नहीं जानता।
ग) कविता वासना का सिंचन और पोषण करती है।

सद्काव्य का गुण – प्लेटो काव्य में सरलता पर बल देते थे। सरलता से उनका अभिप्राय किसी एक सिद्धान्त का पालन करना था और वह सिद्धान्त उनके लिए न्याय का सिद्धान्त था। वे काव्य में उद्देश्य की एकता, अन्विति तथा लयात्मकता पर बल देते थे। काव्य के सम्बन्ध में उनकी निश्चित धारणा है कि वह धार्मिक तथा नैतिक होना चाहिए। उनमें देवताओं और राष्ट्र–वीरों के सद्कृत्यों का वर्णन होना चाहिए। उन्होंने कवियों को परामर्श दिया कि वे देवताओं के चरित्र के सद्गुणों–सच्चाई, शील और दृढ़ता का वर्णन करें। उन्होंने अपनी सुधारवादी दृष्टि के आलोक में साहित्य को दो भागों में विभाजित किया– सद्साहित्य और असद्साहित्य। सद्साहित्य के अन्तर्गत् वे देवस्तुति तथा सज्जन प्रशंसा को लेते हैं। असद्साहित्य उनकी दृष्टि में वह है जिसमें यथार्थ का निराकरण हो, दन्त कथाएँ हों। कथाओं को वे असद्साहित्य मानते हैं, पर वे यदि सत्य की प्रतिष्ठा करें, तो वे उन्हें सद्साहित्य के अन्तर्गत् रखने को तैयार हैं।

प्लेटो मूलतः दार्शनिक थे, उन पर तर्क और बौद्धिकता का गहरा प्रभाव था। उन्होंने कल्पना या फैन्सी का सदा तिरस्कार किया। उनका मत था कि कल्पना द्वारा कवि झूठे बिम्ब और चित्र प्रस्तुत करता है, उनसे ऊपरी तृप्ति तो हो सकती है, पर आत्मा परिष्कृत या उदात्त नहीं बन सकती। भावुकता के भी वे विरोधी थे। क्योंकि वे पाठक के ऊपर भ्रान्ति का परदा डालती है। उनकी दृष्टि में सद्साहित्य वह है जो मानव स्वभाव का सच्चा चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करे कि उससे मानव–स्वभाव में जो कुछ भी महान है, उसका संवर्द्धन हो। वस्तुतः प्लेटो कला या काव्य के नितान्त विरोधी नहीं थे और न सच्चे कवियों का पूर्ण बहिष्कार उन्हें अभीष्ट था। वे केवल उसी कला की निन्दा करते हैं जो अपने कर्त्तव्य को या तो समझती नहीं या ग़लत समझती है।

प्लेटो की सीमाएँ – प्लेटो ने कवि को अनुकर्त्ता हीन अर्थों में कहा व कवि कर्म को निकृष्ट श्रेणी का माना। वे ललित कला को उपयोगी कला के मुकाबले काफी निम्न दर्जा देते हैं। उनका मानना है ललित कला किसी लाभप्रद उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती। इतिहास में उन्हें काव्य विरोधी दार्शनिक के रूप में याद किया जाता है। परवर्ती पाश्चात्य काव्यशास्त्री क्रोचे का कहना है, 'विचारों के इतिहास में कला के महान निषेध का इतना बड़ा विचारक एक भी नहीं हुआ।' 'प्लेटो ने कला को कला की दृष्टि से न देखकर समाज–कल्याण की दृष्टि से परखा है। उन्होंने कलाकार या रचनाकार की स्वायत्तता को स्वीकार नहीं किया। एक अर्थ में वे सुन्दर से अधिक शिव को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यह दृष्टि सौन्दर्यशास्त्र की न होकर दर्शनशास्त्र की है। पर उनकी सीमाओं को ध्यान में रखते हुए हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उनकी दृष्टि दार्शनिक व सुधारक की निष्पत्तियों से अनुचालित थी।

प्लेटो की देन –प्लेटो ने परवर्ती पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन की पीठिका का निर्माण किया। कला पर उनके निर्मम प्रहारों के बावजूद उन्होंने अनेक ऐसे निष्कर्ष निकाले जो आगे के आलोचकों की भूमिका बने –

1) कला को प्लेटो ने आनन्दप्रद कहा, यह अलग बात है कि वे इस आनन्द को अनुपयोगी व घटिया कहते हैं।
2) अरस्तु के पुनर्सृजन सिद्धान्त में प्लेटो की इस निष्पत्ति की भूमिका है कि 'कला सत्य का आभास देती है, अतः मिथ्या है।'
3) उन्होंने माध्यम और रूपात्मकता की भी चर्चा की।
4) कविता में भावोद्रेक के स्थान पर बुद्धि–विवेक पर बल दिया। आवेश के स्थान पर संयम का आग्रह किया। भाषा में अलंकृति के स्थान पर सादगी और सरलता की स्वीकृति दी। ये विशेषताएँ उनके क्लासिकी रूझान को समझने के लिए पर्याप्त हैं।

8.5 लघुउत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– प्लेटो के अनुसार 'काव्य सत्य' क्या है ?

उत्तर– प्लेटो के अनुसार समाज और व्यक्ति के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को 'सत्य' से बल मिलता है। इस मानक के विपरीत किसी भी सच को वे असत्य मानते हैं। वे काव्य सत्य को भी इसी कसौटी पर परखते हैं। अपने युग की काव्य–कृतियों मसलन 'होमर' आदि से गुज़रते हुए वे कहते हैं कि काव्य का सत्य वास्तविक सत्य नहीं होता। उन्हें काव्य सत्य इसलिए भी वास्तविक सत्य नहीं लगता, क्योंकि वे कविता को अज्ञान से उत्पन्न मानते हैं। उनके मतानुसार कवि जिस वस्तु का अनुकरण करते हैं, उसकी प्रकृति से परिचित नहीं होते। अतः उनका अनुकरण/अज्ञान–जन्य होता है। वे सामान्य सत्य के कर्ता को ईश्वर कहते

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हैं, कलाकार उसका अनुकरण करता है, कवि उस अनुकरण का अनुकरण करता है। उनके अनुसार कवि आत्मा के विवेकपूर्ण अंश को प्रसन्न करने या प्रभावित करने के लिए नहीं लिखते, ट्रेजडी के सम्बन्ध में उनकी टिप्पणी उल्लेखनीय है, 'ट्रेजडी का लेखक हमारे विवेक को नष्ट कर हमारी वासनाओं को जाग्रत करता है, उनका पोषण करता है और उन्हें पुष्ट करता है।' वे आनन्द तत्त्व की अपेक्षा बुद्धि तत्त्व को श्रेयस्कर ठहराते हैं।

प्रश्न 2– प्लेटो के अनुसार 'सद्काव्य के गुणों' की विवेचना कीजिए।

उत्तर– प्लेटो ने काव्य में सरलता को महत्त्व दिया। सरलता से उनका अभिप्राय किसी एक सिद्धान्त का पालन था, और उनके लिए वह सिद्धान्त न्याय का सिद्धान्त था। वे काव्य में उद्देश्य की एकता, अन्विति तथा लयात्मकता पर भी बल देते हैं। उनके अनुसार काव्य को धार्मिक एवं नैतिक होना चाहिए। काव्य में देवताओं और राष्ट्र वीरों के सदकृत्यों का वर्णन होना चाहिए। उनकी राय थी कि कवि को देवताओं के चरित्र के सद्गुणों–सचाई, शील और दृढ़ता का वर्णन करना चाहिए। वे सुधारक दृष्टि से संचालित थे। उन्होंने साहित्य के दो भेद किए 'सद्साहित्य' और 'असद्साहित्य'। सद्साहित्य के अन्तर्गत् वे देवस्तुति तथा सज्जन प्रशंसा को लेते हैं, वे 'असद्साहित्य' उसे मानते हैं, जिनमें यथार्थ का निर करण हो, दन्त कथाएँ हों। वे भावुकता का विरोध करते थे, क्योंकि वह पाठक के ऊपर भ्रान्ति का पर्दा डालती है। वे होगर आदि की कृतियों के उन अंशों को निकाल देने की वकालत करते हैं, जिनगें सुख–दुख का अतिरेक है। वे त्रासदी व कामदी (ट्रेजडी व कॉमेडी) की निन्दा करते हैं। उनके लिए सद्साहित्य वह है जो मानव स्वभाव का सच्चा चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करे, जिससे मानव–स्वभाव में महान् का संवर्द्धन हो।

8.6 अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– पाश्चात्य काव्यशास्त्र के पहले समीक्षक कौन हैं ?
उत्तर– पाश्चात्य काव्यशास्त्र के पहले समीक्षक प्लेटो हैं।
प्रश्न 2– प्लेटो को अरबी–फारसी परंपरा में क्या कहते हैं ?
उत्तर– प्लेटो अरबी–फारसी परंपरा में अफ़लातून नाम से प्रसिद्ध हैं।
प्रश्न 3– प्लेटो के जीवन काल का समय क्या था ?
उत्तर– प्लेटो 427–347 ई. पू. हुए।
प्रश्न 4– प्लेटो के गुरू कौन थे ?
उत्तर– प्लेटो के गुरू सुकरात थे।
प्रश्न 5– प्लेटो की रचनाओं का उल्लेख कीजिए।
उत्तर– इओन, सिंपोसियोन, फएद्रस, पोलितइया, नोमोई आदि।
प्रश्न 6– प्लेटो का जन्म कहाँ हुआ ?
उत्तर– प्लेटो का जन्म यूनान के मध्य भाग एथेंस में हुआ।
प्रश्न 7– प्लेटो ने कुल कितनी रचनाएँ कीं ?
उत्तर– प्लेटो की 28 प्रामाणिक रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें 27 संवाद और 11 पत्रों का एक पत्र–संग्रह भी शामिल है।
प्रश्न 8– क्या प्लेटो ने काव्य और कला के संबंध में किसी स्वतंत्र रचना का प्रणयन किया ?
उत्तर– काव्य और कला के सम्बन्ध में प्लेटो ने किसी स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना नहीं की।
प्रश्न 9– प्लेटो के सम्पूर्ण चिन्तन का मुख्य उद्देश्य क्या है ?
उत्तर– प्लेटो के सम्पूर्ण चिन्तन का मुख्य उद्देश्य है – आदर्श राज्य–निर्माण।
प्रश्न 10– प्लेटो ने किन सिद्धान्तों का प्रणयन किया ?
उत्तर– प्लेटो ने 'प्रेरणा सिद्धान्त', 'अनुकृति सिद्धान्त' का प्रणयन किया।
प्रश्न 11– प्लेटो का मूल नाम क्या था ?
उत्तर– प्लेटो का मूल नाम प्लातोन था, जिसका शाब्दिक अर्थ है – चौड़ा चकला।

8.7 सारांश

आपने पाचात्य काव्यशास्त्र के पहले आचार्य प्लेटो की साहित्य सम्बन्धी मान्ताओं का विस्तृत अध्ययन किया। प्लेटों यद्यपि साहित्य को दूसरे दर्जे का कलाकर्म मानते थे, बावजूद इसके वे अपनी स्पष्टवादिता, लोक के प्रति प्रतिबद्धता आदि गुणों के चलते उल्लेखनीय विचारक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 9

अरस्तू (384–322 ई. पू.)
अनुकरण सिद्धान्त, त्रासदी विवेचन

संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 अनुकरण सिद्धान्त
9.3 त्रासदी विवेचन
9.4 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
9.5 लघु उत्तरीय प्रश्न
9.6 अति लघु उत्तरीय प्रश्न
9.7 सारांश

9.0 प्रस्तावना :

अरस्तू की मेधा और कुशाग्रता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि गुरू प्लेटो उन्हें अपने विद्यापीठ का मस्तिष्क और छात्रों को शरीर कहा करते थे। गुरू शिष्य सम्बन्धों का आलम यह था कि अनेक बातों पर तीव्र मतभेद के बावजूद आपसी मधुरता बनी रही। प्लेटो के सामने गणतंत्र का ऊँचा (वायवीय) आदर्श था और उसी आलोक में उन्होंने काव्य को अनुकृति की अनुकृति कहकर तिरस्कृत किया। अरस्तु ने सबसे पहले काव्य की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किया। उनका काव्य सिद्धान्त गुरु से एकदम भिन्न था। जहाँ गुरू ने काव्य को असत्, हीन और हानिकारक बताया, वहीं शिष्य ने सत्, गम्भीर और उपयोगी कहा। आप इस अध्याय में अरस्तू के काव्य सिद्धान्तों से रू–ब–रू होंगें।

ज्ञान की एकाधिक शाखाओं में मेधावी ढंग से सक्रिय अरस्तू मूलतः भौतिक विज्ञान और प्राणी विज्ञान के क्षेत्र के विशेषज्ञ थे। उनके द्वारा रचित चार सौ ग्रन्थों में शायद ही ज्ञान–विज्ञान के किसी क्षेत्र की चर्चा न हुयी हो। साहित्य से सम्बन्धित विषयों पर उन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की– 1) भाषाशास्त्र (तेखनेस रितोरिकेस) 2) काव्यशास्त्र (पेरिपोइतिकेस)।

छब्बीस अध्यायों में विभाजित कृति 'काव्यशास्त्र' में अरस्तू ने एक ओर तो युनानी काव्य का वस्तुगत विवेचन किया और दूसरी ओर प्लेटो के आक्षेपों का उत्तर दिया। पर यह महत्त्वपूर्ण है कि ये उत्तर खंडन शैली में न होकर काव्य पक्ष के समर्थन की चिन्ता से प्रेरित हैं। उनके काव्य सिद्धान्तों को अनुकरण सिद्धान्त और त्रासदी विवेचन के संदर्भ में व्याख्यायित किया जा सकता है। आइए हम सिद्धान्तों का विस्तृत मूल्यांकन करें।

9.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से हम–

1. अरस्तू के काव्य सम्बन्धी आवधारणा को समझ सकेंगे।
2. उनके अनुकरण सिद्धान्त को जान सकेंगे,
3. त्रासदी के लक्षणों का विवेचना कर सकेंगे, और
4. अरस्तू की साहित्यिक रचनाओं को ज्ञान कर सकेंगे।

9.2 अनुकरण सिद्धान्त

प्लेटो और अरस्तू दोनों ने अनुकरण सिद्धान्त का उल्लेख किया है। पर प्लेटो ने जहाँ अनुकरण का अर्थ हूबहू नकल माना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वहीं अरस्तू ने उस शब्द को एक नया अर्थ दिया। अरस्तू की कृति 'काव्यशास्त्र' के प्रसिद्ध व्याख्याकार बूचर के अनुसार, अनुकरण का अर्थ है सादृश्यविधान या मूल का पुनरुत्पादन। प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नगेन्द्र ने अरस्तू की अनुकरण सम्बन्धी मान्यता के चार चरणों का हवाला दिया है –

1) कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन है।

2) यह पुनरुत्पादन वस्तु के मौलिक रूप का नहीं, उसके प्रतीयमान रूप का होता है, अर्थात् कलाकृति कलाकार के मनोगत् बिम्ब का प्रतिफल होती है।

3) कलाकृति में मानव जीवन के सामान्य पक्ष का अनुकरण होता है।

4) कलाकृति मानव जीवन का आदर्शीकृत रूप है।

9.3 त्रासदी विवेचन

पाश्चात्य साहित्य चिन्तन का केन्द्रीय आधार त्रासदी है। अरस्तू ने अपने समय में उपलब्ध साहित्य के प्रकाश में त्रासदी के लक्षणों को सूत्रबद्ध किया। डॉ. नगेन्द्र के 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' के अनुसार यह लक्षण इस प्रकार है, 'त्रासदी गंभीर स्वतः पूर्ण, निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है। यह समाख्यान रूप में न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है। इसका माध्यम नाटक के विभिन्न भागों में तद्नुरूप प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है। उसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है। इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार संभव है –

1) त्रासदी कार्य की अनुकृति है।

2) यह कार्य गंभीर होता है, स्वतः पूर्ण होता है और निश्चित आयाम से युक्त होता है।

3) त्रासदी कार्य व्यापार का वर्णन नहीं, प्रस्तुति होती है।

4) त्रासदी का माध्यम भाषा होती है। यह भाषा नाटकोचित आभरणों से अलंकृत होती है।

5) करूणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा मनोविकारों का विवेचन त्रासदी का कार्य होता है।

अरस्तू ने त्रासदी के छः अंगों को अनिवार्य बताया –

क) कथानक	ख) चरित्र	ग) पदावली
घ) विचार	ड.) दृश्य विधान	च) गीत।

इनमें कथानक, चरित्र, और विचार अनुकरण के विषय हैं। दृश्य विधान अनुकरण की पद्धति है और पदावली एवं गीत अनुकरण के माध्यम हैं। इन छः तत्त्वों में अरस्तू ने सर्वाधिक महत्त्व कथावस्तु को दिया।

9.4 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

उत्तर– अनुकरण या इमिटेशन यूनानी शब्द 'मिमेसिस' का अनुवाद है। यह प्लेटो के समय से कला–विषयक चर्चा का उल्लेखनीय अंग रहा है और विगत् ढाई हज़ार वर्षों में इसकी न जाने कितनी व्याख्याएँ हुयी हैं। जहाँ अरस्तू के गुरु प्लेटो अनुकरण का मतलब हूबहू–नकल मानते हैं। वहीं अरस्तू ने इस शब्द को नयी अर्थछवियों से सम्पन्न किया। प्लेटो यथार्थ का अनुकरण अर्थात् अनुकरण का अनुकरण होने से काव्य को हीन मानते हैं लेकिन अरस्तू के अनुसार कवि यथार्थ को मात्र प्रस्तुत ही नहीं करता, वह उसके सादृश्य पर एक नयी वस्तु गढ़ लेता है। उसमें यथार्थ का अनुकरण नहीं, नया निर्माण होता है जो यथार्थ से अधिक सुंदर, अधिक परिष्कृत होता है, और इस प्रकार वह आदर्श की कोटि मे पहुँच जाता है। उनकी मान्यता है कि आदर्श यथार्थ से उच्चतर और श्रेष्ठतर होता है। इस प्रकार अरस्तू काव्य के संदर्भ में जब अनुकरण शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ उत्पादन या सर्जन ही है। इस उत्पादन अथवा सर्जन के लिए प्रकृतिगत विषय का चयन मिश्रण और अलंकरण ही पर्याप्त नहीं है, उसमें कुछ जोड़ या घटा देना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य स्थापित कर उनमें आदर्श एकान्विति लाना भी महत्त्वपूर्ण है। फिर अनुकरण एक सर्जनात्मक व्यापार में तब्दील हो जाता है। वह बिंब के रूप मूर्त की ही अभिव्यक्ति है। सामान्य का ग्रहण तथा सरल एवं एन्द्रिय रूप में उसका पुनरुत्पादन एन्द्रिय प्रत्यक्षों द्वारा पूर्व–परिचित यथार्थ का प्रतिफल नहीं है, बल्कि वह प्रकृति का प्रतिस्पर्धी है, क्योंकि वह प्रकृति के अपूर्ण उद्देश्यों को पूर्ण करता है और उसकी असफलताओं का निराकरण करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अरस्तू सिद्धान्त के विश्लेषक बूचर के अनुसार अनुकरण सम्बन्धी मान्यता के चार चरण हैं –

1) कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन है।

2) कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन तो है लेकिन उसके मौलिक रूप में नहीं, बल्कि उस रूप में जैसी वह ज्ञानेन्द्रियों को प्रतीत होती है। अभिप्राय यह है कि कोई वस्तु जैसी रहती है उसी रूप में कलाकृति में अभिव्यक्त नहीं होती अपितु ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से मन पर उसका जो बिंब अंकित होता है, उसी के अनुरूप वह कलाकृति में अभिव्यक्त होती है, अर्थात् कलाकृति वस्तु का प्रतिफल नहीं, कलाकार के मनोगत बिंब का प्रतिफल है।

3) कलाकृति मानव जीवन के सामान्य पक्ष का अनुकरण करती है, विशेष या व्यक्तिनिष्ठ का नहीं।

4) कलाकृति मानव जीवन का आदर्शीकृत प्रतिरूपण है। इस प्रकार अनुकरण किसी एक अर्थ का वाचक नहीं है, उसका पूर्ण अर्थ कई तत्त्वों के योग से व्यक्त होता है, जिनमें प्रमुख हैं – पुनरूत्पादन, मानस बिंब, जीवन का सामान्य तथा आदर्श पक्ष। अरस्तू के मन में इन तत्त्वों के मिश्रित रूप का ही नाम अनुकरण है जो प्लेटो के अनुकरण से सर्वथा भिन्न है। अतः वह उस हीन अर्थ से भी मुक्त है, जो प्लेटो द्वारा व्याख्यायित था।

अनुकरण मनोगत बिम्ब का प्रतिफलन – अरस्तू ने अनुकरण को 'प्रकृति का अनुकरण' रूप में स्वीकार नहीं किया। बूचर का कहना है कि अरस्तू के अनुसार सौन्दर्यात्मक अनुकरण के तीन विषय हैं – 1) चरित्र 2) भाव और 3) कार्यव्यापार। उनके द्वारा प्रयुक्त इनके क्रमशः युनानी पर्याय हैं – एथोस, पाथोस और प्रॅक्सिस। चरित्र से अभिप्राय है वे सभी विशिष्ट, नैतिक गुण या स्थायी चित्तवृत्तियाँ जो संकल्प शक्ति को प्रकट करती हैं। भाव शब्द से अनुभूति या संवेदना की अस्थायी मनोदशाएँ अभिप्रेत हैं। कार्यव्यापार समीचीन, आंतरिक कार्यों को बोधित करता है। वस्तुतः कोई भी कार्य, जो केवल बाह्य प्रक्रिया या घटना श्रृंखला के रूप में दिखायी देता है, वह सौन्दर्यात्मक अनुकरण का उपयुक्त विषय नहीं बनता। कला जिस कार्यव्यापार को प्रस्तुत करने का प्रयास करती है, वह मुख्यतः आन्तरिक प्रक्रिया है। बूचर कहते हैं वह बहिर्मुख क्रियाशील आत्मिक ऊर्जा है। इसमें वे सभी कार्य, प्रसंग, घटनाएँ, स्थितियाँ आ जाती हैं, जो संकल्प के आन्तरिक प्रयत्न से पैदा होती हैं या विचार अथवा अनुभूति की किसी चेष्टा को प्रकाशित करती हैं। बूचर अरस्तू द्वारा प्रतिपादित कार्यव्यापार में चरित्र, भाव और कार्यव्यापार तीनों का समाहार पाते हैं। इस व्यापक परिधि में समस्त मानव जीवन समाविष्ट हो जाता है।

अनुकरण और एन्द्रिय प्रतीति अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त का एक पक्ष है एन्द्रिय प्रतीति। उनके सिद्धान्त के अनुसार, 'कलाकृति मूल वस्तु को पुनरुत्पादित तो करती है लेकिन उस रूप में नहीं जो उसका स्वरूप है, बल्कि उस रूप में जैसी वह इन्द्रियों में प्रतिभासित होती है। अर्थात् कला का सम्बन्ध अमूर्त तर्क से नहीं, बल्कि संवेदना से और बिंबविधायिनी शक्ति से है, बाह्य प्रतीतियों से है। सौन्दर्यात्मक सादृश्य को प्लेटो व अरस्तू दोनों मानते हैं। पर दोनों में अंतर है। जहाँ प्लेटो इस मत का उपयोग कला के अवमूल्यन के लिए करते हैं, वहीं अरस्तू कला के अधिमूल्यन के लिए। प्लेटो के अनुसार सादृश्य अनुकरण का अनुकरण होने से अयथार्थ अथवा असत्य है। जबकि अरस्तू के मत में सादृश्य वस्तु जगत् का इन्द्रिय ग्राह्य मानसिक बिंब होने से यथार्थ और सत्य है। अरस्तु के अनुसार कला वस्तुओं की यथार्थ सत्ता को व्यक्त नहीं करती, उनकी केवल एन्द्रिय प्रतीति को व्यक्त करती है। इसलिए उसे असत्य कहना ग़लत है। सादृश्य (अनुकरण) किसी वस्तु पर कलात्मक रूप का अंकन मात्र है। रूप के आरोप से अंतर यह आ जाता है कि वह वस्तु भौतिक यथार्थ से एवं उसके साथ संश्लिष्ट अभावों से पृथक हो जाती है। कला की 'मुक्ति शक्ति' का रहस्य इसी प्रक्रिया में निहित है। कला में रूप और वस्तु के संयोग से, एक जादुई शक्ति का आविर्भाव होता है। रूप एवं वस्तु का यह संयोग अनुभव जगत् अर्थात् वस्तु जगत् में संभव नहीं होता, केवल कला जगत् ही संभव होती है।

इस प्रकार अरस्तू के अनुसार 'कलाकृति ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकृत रूपों में मानव जीवन का अर्थात् चरित्र, भाव और कार्यव्यापार का आदर्शीकृत प्रतिरूप है।'

प्रश्न 2– अरस्तू के त्रासदी विवेचन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– पाश्चात्य काव्यशास्त्र का केन्द्रीय आधार त्रासदी है। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में मुख्यतया त्रासदी का ही विश्लेषण किया है। काव्यशास्त्र के छठे अध्याय से उन्नीसवें अध्याय तक इसी का वर्णन किया गया है। अरस्तू ने त्रासदी के लक्षणों को सूत्रबद्ध करते हुए कहा, 'त्रासदी गंभीर, स्वतः पूर्ण, निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है। यह समाख्यान रूप में न होकर कार्य व्यापार रूप में होता है। इसका माध्यम नाटक के विभिन्न भागों में तदनुरूप प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है। उसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है। इस परिभाषा से निम्नांकित बिंदु उभरते हैं –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1) त्रासदी कार्य की अनुकृति है।
2) यह कार्य गंभीर होता है, स्वतः पूर्ण होता है और निश्चित आयाम से युक्त होता है।
3) त्रासदी कार्य व्यापार का वर्णन नहीं, प्रस्तुति होती है।
4) इसका माध्यम भाषा होती है। यह भाषा नाटकोचित आभरणों से अलंकृत होती है।
5) करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन त्रासदी का कार्य है।

त्रासदी और विरेचन – सबसे पहली बात 'त्रासदी' में मनोविकारों का उचित विरेचन है। अतः विरेचन की प्रक्रिया की संक्षिप्त जानकारी आवश्यक है। विरेचन का उल्लेख अरस्तू ने अपने दो ग्रन्थों 'राजनीति' और 'काव्यशास्त्र' में किया है। 'विरेचन' शब्द वस्तुतः एक रूपक की तरह व्यवहृत हुआ है। इसके सन्दर्भ में तीन तरह की धारणाएँ हैं – एक तो यह कि इस शब्द को चिकित्साशास्त्र से लिया गया है और इसका अर्थ है रेचक के द्वारा उदरशुद्धि। एक विचार यह भी है कि यह धार्मिक या नैतिक रूपक है, जिसका अभिप्राय पवित्रीकरण है। कुछ लोग इसे सौन्दर्यशास्त्रीय 'साधारणीकरण' मानते हैं। बूचर ने 'विरेचन' के कलापरक अर्थ का आख्यान करते हुए कहा, 'किन्तु इस शब्द का, जिस रूप में कि अरस्तू ने इसे अपनी कला की शब्दावली में ग्रहण किया है और भी अधिक अर्थ है। यह केवल मनोविज्ञान अथवा निदानशास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर एक कला–सिद्धान्त का अभिव्यंजक है।'

अरस्तू ने विरेचन की प्रक्रिया का उल्लेख करुणा और त्रास के सन्दर्भों में किया है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, 'त्रास में किसी आसन्न घातक अनिष्ट से उत्पन्न कटु अनुभूति रहती है। और करुणा में किसी निर्दोष व्यक्ति के घातक अनिष्ट के साक्षात्कार से और इन दोनों में ही अनिष्ट की भावना भी प्रच्छन्न रूप से वर्तमान रहती है।' विरेचन द्वारा इनकी कटुता समाप्त हो जाती है एवं प्रेक्षक या पाठक मानसिक तुष्टि का अनुभव करते हैं। ऐसा कहकर उन्होंने गुरु प्लेटो के उस कथन का कि 'त्रासदी द्वारा आनन्द का अनुभव करते हुए भी सामाजिक दुख का अनुभव करता है का समाधान प्रस्तुत कर दिया। अरस्तू का अभिप्राय यह है कि विरेचन द्वारा दुखानुभूति बहिर्गत् हो जाती है।'

त्रासदी के अंग :– अरस्तू ने त्रासदी के अंगों का विवेचन संरचनागत–विश्लेषणात्मक पद्धति द्वारा विस्तार से किया है। उन्होंने त्रासदी के छः अनिवार्य अंग बताए – 1) कथानक 2) चरित्र 3) पदावली 4) विचार 5) दृश्य विधार और 6) गीत।

उल्लिखित अंगों में कथानक, चरित्र और विचार अनुकरण के विषय हैं, दृश्य विधान अनुकरण की पद्धति है, और पदावली तथा गीत अनुकरण के माध्यम हैं।

कथानक – कथानक से अरस्तू का तात्पर्य घटनाओं के विन्यास से है। वे इसे त्रासदी का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग, उसकी आत्मा मानते हैं। अपनी बात के समर्थन में उन्होंने निम्नांकित कारणों का उल्लेख किया है :–

1) त्रासदी कार्य तथा जीवन की अनुकृति है – व्यक्ति की नहीं।
2) जीवन कार्य व्यापार का ही नाम है, अतः जीवन की अनुकृति में कार्य व्यापार ही प्रमुख है।
3) काव्यगत प्रभाव का स्वरूप सुख या दुख होता है। यह कार्य पर निर्भर रहता है, अतः कार्य या घटनाएँ ही त्रासदी का साध्य हैं।
4) चरित्र कार्य व्यापार के साथ गौण रूप में स्वतः ही आ जाता है।
5) कार्य व्यापार के बिना त्रासदी नहीं हो सकती जबकि चरित्र–चित्रण के बिना हो सकती है।
6) चरित्र–व्यंजक भाषण, विचार अथवा पदावली उतना कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकते जितना कथानक।
7) त्रासदी के सबसे प्रबल आकर्षक तत्त्व स्थिति विपर्यय तथा अभिज्ञान कथानक के ही अंश है।

2) त्रासदी में चरित्र–चित्रण :– चरित्र–चित्रण त्रासदी का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंश है। अरस्तू ने इसके लिए इथोज़ शब्द का प्रयोग किया। इसके वास्तविक अर्थ के बारे में विद्वानों में मतभेद है। बोसांके के चरित्र का अर्थ है वर्गगत और सामान्य विशेषता vFkZ~og dey Hknzk&vHknzkdk| ksu djrkgS&nwljhr¡ Q+iks बूचर का कहना है, इसमें व्यक्ति के नैतिक दोषों के साथ ही व्यक्ति की विशेषता की ओर भी संकेत है। इन दोनों धारणाओं में प्रो. बूचर का मत अधिक तर्कसंगत है, क्योंकि अरस्तू की इथोज की परिभाषा में भी चरित्र उसे कहते हैं जो किसी व्यक्ति की रुचि–अरुचि का प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजन व्यक्त करे।

'काव्यशास्त्र' के पन्द्रहवें अध्याय में अरस्तू ने कहा है कि चरित्र–चित्रण में नाटककार को चार बातों का ध्यान रखना चाहिए –1) चरित्र अच्छा हो 2) औचित्य का ध्यान रखा जाए 3) वह जीवन के अनुरूप हो और 4) चरित्र में एकरूपता हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3) विचार–तत्त्व – विचार का आधाभूत तत्त्व है – विचार। प्रो. बूचर के अनुसार, 'इसके अन्तर्गत् बुद्धि तत्त्व और भाव–तत्त्व दोनों का समावेश किया गया है, क्योंकि किसी भाव या अभाव सिद्ध करना अथवा सामान्य सत्य की व्यंजक सूक्ति का आख्यान करना बुद्धि तत्त्व के अन्तर्गत् आता है और करुणा, त्रास, क्रोध की उद्‌बुद्धि, अतिमूल्यन और अवमूल्यन भाव–तत्त्व के अन्तर्गत्।

4) पदावली – अरस्तु पदावली का अभिप्राय 'शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति मानते हैं। त्रासदी के लिए वे अलंकृत भाषा को आवश्यक मानते हैं। अलंकृत भाषा पर उनकी टिप्पणी है – 'मेरा अभिप्राय ऐसी भाषा से है जिसमें लय, सामंजस्य और गीत का समावेश होता है।' उन्होंने पदावली के छः भेदों का उल्लेख किया है – जन सामान्य में प्रचलित, विदेशी भाषाओं या विभाषाओं से संग्रहीत, अलंकृत तथा आडम्बरयुक्त, नये गढ़े हुए शब्द, वे शब्द जो नितान्त आविष्कृत तो नहीं किए गए पर जिनके मूलरूप में परिवर्तन किया गया है आदि।

5) दृश्य विधान – अरस्तू के अनुसार दृश्य विधान का सम्बन्ध कवि की अपेक्षा मंच–शिल्प की कला से अधिक है और इसके अभाव में भी त्रासदी के प्रबल प्रभाव की अनुभूति होती है। दृश्य विधान का अर्थ है रंगमंच की साज–सज्जा, पात्रों की वेशभूषा आदि जो रंगमंच के साधनों के कुशल प्रयोग से उपस्थित की जाती है।

6) गीत – अरस्तू ने गीत को त्रासदी का अनिवार्य अंग माना है, उनकी मान्यता है कि गीत के द्वारा त्रासदी का विषय और वातावरण अधिक गम्भीर, प्रभावशाली और भव्य हो जाता है। वे समूह गान (वृन्द गान) को पात्र के समान महत्त्व देते और उसे त्रासदी का अविच्छिन्न अंग मानते हैं।

9.5 लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– अरस्तू द्वारा व्यवहृत अनुकरण का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– जहाँ प्लेटो ने अनुकरण का मतलब हूबहू नकल माना, वहीं अरस्तू ने इस शब्द को नया अर्थ दिया। उन्होंने अनुकरण का अर्थ पुनरुत्पादन या पुनर्सृजन कहा। उन्होंने अनुकरण के चार चरणों का हवाला दिया –

1) कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन है।

2) यह पुनरुत्पादन वस्तु के मौलिक रूप का नहीं, उसके प्रतीयमान रूप का होता है, अर्थात् कलाकृति कलाकार के मनोगत बिम्ब का प्रतिफल होती है।

3) कलाकृति में मानव जीवन के सामान्य पक्ष का अनुकरण होता है।

4) कलाकृति मानव–जीवन का आदर्शीकृत प्रतिरूपण है।

अरस्तू द्वारा प्रयुक्त यह पद उस हीनार्थकता से बहुत दूर तक मुक्त हुआ जो उनके गरु के द्वारा व्याख्यायित था।

प्रश्न 2– त्रासदी क्या है ? इसके कितने अंग है ?

उत्तर– अरस्तू ने त्रासदी को परिभाषित करते हुए कहा, 'त्रासदी गंभीर, स्वतः पूर्व, निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है। यह समाख्यान रूप में न होकर कार्य–व्यापार रूप में होती है। इसका माध्यम नाटक के विभिन्न भागों में तदनुरूप प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है। उसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।' उन्होंने त्रासदी के छः अनिवार्य अंगों का उल्लेख किया है –

1) कथानक 2) चरित्र 3) पदावली 4) विचार 5) दृश्य विधान और 6) गीत।

प्रश्न 3– विरेचन क्या है ?

उत्तर– 'विरेचन' पद वस्तुतः एक रूपक है। अरस्तू ने इसका विवेचन कलापरक अर्थ में किया है। वे विरेचन की प्रक्रिया का उल्लेख करुणा और त्रास के सन्दर्भ में करते हैं। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, 'त्रास में किसी आसन्न, घातक अनिष्ट से उत्पन्न कटु अनुभूति रहती है। और करुणा में किसी निर्दोष व्यक्ति के घातक अनिष्ट के साक्षात्कार से और इन दोनों में ही अपने अनिष्ट की भावना भी प्रच्छन्न रूप से वर्तमान रहती है।' विरेचन द्वारा इनकी कटुता समाप्त हो जाती है और प्रेक्षक अथवा पाठक मानसिक तुष्टि का अनुभव करता है। अरस्तू का अभिप्राय यह है कि विरेचन द्वारा दुखानुभूति बहिर्गत् हो जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 4– अरस्तू ने त्रासदी की आत्मा किसे कहा और क्यों ?

उत्तर– अरस्तू ने त्रासदी की आत्मा 'कथानक' को कहा। उन्होंने इसकी विस्तार से व्याख्या की है, जिनसे निम्नांकित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं –

1) कथानक त्रासदी की आत्मा है।

2) चरित्र–चित्रण के बिना त्रासदी हो सकती है पर कार्य–व्यापार के बिना नहीं।

कथानक को अरस्तू सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, इसके प्रमाण में यह तथ्य भी उपस्थित है कि उन्होंने जितने विस्तार से कथानक के विविध पक्षों पर विचार किया है, उतना किसी और तत्त्व पर नहीं। उन्होंने कथानक पर आधार, विस्तार, संरचना, भेद, वस्तु विन्यास समस्त दृष्टियों से विचार किया है।

9.6 अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– अरस्तू प्रवर्तित सिद्धान्त का नाम लिखिए।

उत्तर– अरस्तू ने 'विरेचन सिद्धान्त' का प्रणयन किया।

प्रश्न 2– अरस्तू के जीवन काल का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– अरस्तू का जीवन काल है 384–322 ई. पूर्व तक।

प्रश्न 3– अरस्तू के गुरु कौन थे ?

उत्तर– अरस्तू के गुरु प्लेटो थे।

प्रश्न 4– अरस्तू की साहित्यिक रचनाओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– अरस्तू की साहित्य से सम्बन्धित दो पुस्तकें हैं –

1) भाषाशास्त्र (तेखनेस रितोरिकेस)

2) काव्यशास्त्र (पेरिपोइतिकेस)

प्रश्न 5– अरस्तू ने अनुकरण का क्या अर्थ लिया ?

उत्तर– अरस्तू ने अनुकरण का अर्थ 'पुनर्सृजन' लिया।

प्रश्न 6– त्रासदी का सर्वांगपूर्ण विवेचन सबसे पहले किसने किया ?

उत्तर– अरस्तू ने सर्वप्रथम त्रासदी का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया।

प्रश्न 7– अनुकरण का युनानी पर्याय क्या है ?

उत्तर– अनुकरण का युनानी पर्याय 'मिमेसिस' है।

प्रश्न 8– अरस्तू द्वारा उद्धृत 'प्रकृति' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर– अरस्तू द्वारा उद्धृत प्रकृति शब्द का अर्थ है – मानव प्रकृति।

प्रश्न 9– विरेचन या केथारसिस शब्द किससे सम्बन्धित है ?

उत्तर– विरेचन या केथारसिस शब्द चिकित्साशास्त्र से सम्बन्धित है।

प्रश्न 10– विरेचन का कलापरक अर्थ किसने लिया ?

उत्तर– विरेचन का कलापरक अर्थ अरस्तू ने लिया, जिसकी व्याख्या प्रो0 बूचर ने की।

प्रश्न 11– अरस्तू त्रासदी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग क्या मानते हैं ?

उत्तर– अरस्तू त्रासदी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग 'कथानक' मानते हैं।

9.7 सारांश

आपने विस्तारपूर्वक इसे समझा कि कैसे प्लेटो के काव्य सिद्धान्त की अरस्तू ने सर्जनात्मक आयाम में तब्दील किया। अनुकरण को पुनर्सृजन कहकर रचनाकार या कलाकार के सर्जक रूप को उद्घाटित करना अरस्तू की उपलब्धि है। आपने 'अनुकरण सिद्धान्त' के साथ–साथ 'विवेचन सिद्धान्त' की विशेषता औरउपादेयता को बखूबी समझा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 10

लौंजाइनस (प्रथम या तृतीय शताब्दी)

उदात्त की अवधारणा

संरचना

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2 उदात्त की अवधारणा

10.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

10.4 लघु उत्तरीय प्रश्न

10.5 सारांश

10.0 प्रस्तावना

अरस्तु के 'काव्यशास्त्र' की तरह ही पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिंतन का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है 'पेरिहुप्सुस' अर्थात् 'उदात्त के विषय में'। लौंजाइनस या लौंगिनुस कब और कहाँ हुए, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'लिटरेसी क्रिटिसिज्मः ए शॉर्ट हिस्ट्री' में इस परंपरागत कथन का खण्डन किया गया कि लौंजाइनस ईसा की तीसरी शताब्दी में रचनारत थे। परंपरागत मान्यता के खंडन के बाद लौंजाइनस की खोज शुरू हुयी और यह पाया गया कि 'पेरिहुप्सुस' का रचनाकार लौंजाइनस कोई अज्ञात ग्रीक लेखक है जो ईसा की पहली सदी में रोम में निवास करते थे। लौंजाइनस ने उदात्त की अवधारणा प्रस्तुत की थी। इस अध्याय में आप इस बवधारणा को समझ सकेंगे।

10.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से हम–

1. उदात्त की अवधारण का ज्ञान कर सकेंगे।
2. लौंजाइनस के उदात्त सम्बन्धी विचार को जान सलेंगे।
3. उदात्त के तत्वों को समझ सकेंगे।
4. उदात्त के दोषों को ज्ञान कर सकेंगे।

10.2 उदात्त की अवधारणा

उदात्त का अभिप्राय है – भावगत महत् उन्मेष, उत्क्षेपण। उदात्तता में आत्मोत्कर्ष का सहज गुण होता है, आनन्द की सहज प्रतिष्ठा होती है। वे पहले ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने आत्म तत्त्व को प्राथमिक महत्त्व दिया। आलोचक डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में, 'यद्यपि उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ उदात्त की कला का विश्लेषण किया है और इसकी साधना का उचित विधान किया है, फिर भी उनके सम्पूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादन में आत्मतत्त्व का स्थान ही प्रमुख रहा है – प्रतिभा का प्राथमिक महत्त्व, काव्य की सर्जना में अन्तः प्रेरणा की प्रधानता, काव्य का आध्यात्मिक आधार, काव्य प्रयोजन के रूप में काव्य के उत्कर्ष पर बल, शैली के विभिन्न तत्त्वों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आदि तथ्य इस मत की पुष्टि के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं।

लौंजाइनस ने उदात्तता के पाँच स्त्रोतों का उल्लेख किया है –

1) विचारों की ऊर्जस्विता।

2) भावावेग की सघनता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3) समुचित अलंकार योजना।

4) साधु शब्द विन्यास और

5) गरिमापूर्ण रचना विधान।

आइए प्रश्नोत्तरों के माध्यम से प्रस्तुत अवधारणा को विस्तार से समझें।

10.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– लौंजाइनस का उदात्त क्या है ? उदात्त के विभिन्न स्त्रोतों का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर– लौंजाइनस ने अपनी कृति 'पेरिहुप्सुस' में उदात्त को परिभाषित करते हुए कहा – 'उदात्त अभिव्यंजना का अनिर्वचनीय प्रकर्ष और वैशिष्ट्य है।' यही वह साधन है जिसकी सहायता से महान् कवियों और इतिहासकारों ने ख्याति और अनिश्वर कीर्ति अर्जित की है। उदात्त का प्रभाव श्रोताओं के अनुनयन में नहीं, बल्कि सम्मोहन में दिखाई देता है। सर्जनात्मक कौशल और वस्तुविन्यास पूरी रचना में आद्यंत वर्तमान रहते हैं और क्रमशः शनैः शनैः उभरते हैं, लेकिन बिजली की कौंध की तरह सही समय पर उदात्त की एक कौंध, पूरे विषय को उद्भासित कर देती है।

लौंजाइनस की उदात्त सम्बन्धी विवेचनाओं का सार है –

1) उदात्त अभिव्यंजना का प्रकर्ष और वैशिष्ट्य है।

2) उदात्त का कार्य अनुनयन नहीं, सम्मोहन है।

3) उदात्त यदा कदा नहीं, बल्कि सदा, सबको और सम्पूर्णतः सम्मोहित करता है।

4) उदात्त सर्जनात्मक या रचनात्मक कौशल से भिन्न तत्त्व है। उसका प्रभाव क्रमिक नहीं, आकस्मिक होता है और उसके अलौकिक आलोक में कथ्य चमक उठता है।

लौंजाइनस ने उदात्तता के पाँच स्त्रोतों का उल्लेख किया है –

1) विचारों की ऊर्जस्विता।

2) भावावेग की सघनता।

3) समुचित अलंकार योजना।

4) साधु शब्द विन्यास और

5) गरिमापूर्ण रचना विधान।

लौंजाइनस ने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि उदात्त के पहले दो तत्त्व सहजात होते हैं। जबकि बाकी तीन कला की उपज हैं। तात्पर्य है पहले दोनों तत्त्व प्रतिभा की देन हैं और शेष कला (व्युत्पत्ति अभ्यास) की। उदात्त के इन पाँचों स्त्रोतों का मूल स्त्रोत लौंजाइनस की दृष्टि में एक ही है – महान आत्मा। अब पाँचों स्त्रोतों का विस्तार से अध्ययन किया जाय –

1) विचारों की ऊर्जस्विता – उदात्त के तत्त्वों में विचारों की ऊर्जस्विता का सबसे प्रमुख स्थान है। विचारों की ऊर्जस्विता तब तक संभव नहीं है, जब तक वक्ता या लेखक की आत्मा भी महान् हो, कारण कि 'औदात्य महान आत्मा की प्रतिध्वनि है। महान आत्मा का तात्पर्य हुआ कि व्यक्ति के चरित्र, आचार, व्यवहार सभी महान हों। महान आदर्शों का अनुकरण भी विचार की महत्ता को समृद्ध करता है। यही कारण है कि प्राचीन, श्रेष्ठ रचनाओं का ज्ञान आवश्यक है। उत्तम आदर्शों के अनुकरण से अनुकर्त्ता का पथ प्रशस्त तथा आलौकिक होता है। साथ ही उसकी आत्मा का उन्नयन होता है।

2) भावावेग की सघनता – 'पेरिहुप्सुस' के अनेक प्रसंगों में वर्णित लौंजाइनस के कथनों से ज्ञात होता है कि उदात्त के लिए वे भाव की तीव्रता या प्रबलता को आवश्यक मानते हैं। भावावेग की सघनता के कारण ही वे होमर के 'इलियड' को 'ओडिसी' से बेहतर बताते हैं। महान विचारों के साथ भावावेग की सघनता का सम्बन्ध महान आत्माओं से है। भाव की सत्यता सघनता में अंतर्भुक्त है। वे अतिरंजना या अतिरेक को अविश्सनीयता का कारण बताते हैं, जिससे आह्लाद में बाधा पहुँचती है।

लौंजाइनस उदात्त को क्षुद्र भावों से मुक्त रखने का आग्रह करते हैं। करूणा, भय आदि को वे क्षुद्र भाव मानते हैं। उनके अनुसार इससे उदात्त की निष्पत्ति नहीं हो सकती। लौंजाइनस इस विषय में अरस्तू से असहमत है। अरस्तू के अनुसार करुणा और भय दुखांतक के लिए अनिवार्य हैं। उनका विरेचन सिद्धान्त इन्हीं पर आश्रित है। किन्तु लौंजाइनस की दृष्टि में ये दोनों क्षुद्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भाव हैं और उदात्त के विरोधी हैं।

3) समुचित अलंकार योजना – उदात्त निर्वाह के लिए जिस कलात्मक साधन की अपेक्षा है, उनमें समुचित अलंकार योजना का प्रमुख स्थान है। लौंजाइनस का अलंकार निरूपण मुख्यतः भाषण–कला की दृष्टि से है, जिसमें अलंकारों की सहायता से आनन्द, विस्मय, उत्सुकता आदि को जगाते हुए श्रोता की सहनति प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। यह लेखन में भी उतना ही उपादेय है। लौंजाइनस के अनुसार अलंकारों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है – विचारालंकार तथा शब्दालंकार। विचारालंकार, अर्थालंकार ही है। वे अलंकारों को साधन मानते हैं, साध्य नहीं। साध्य उदात्त हैं, अलंकार उसके प्रभाव को तीव्र बनाने में साधनमात्र हैं।

4) साधु शब्द–विन्यास – साधु शब्द–विन्यास गरिमामय उदात्त शैली का एक प्रमुख आधार है। उदात्त के लिए उपयुक्त और मनोहारी पद अपेक्षित हैं। ऐसे ही पद श्रोताओं, पाठकों को आकृष्ट और आह्लादित कर सकते हैं। इन्हीं से शैली में गरिमा, रमणीयता, स्निग्ध ता, बलवत्ता, शक्ति या अन्य अपेक्षित गुण आते हैं। ललित पदावली से अधिक आवश्यक है परिचित पदावली। क्योंकि इसमें जीवन की सच्ची धड़कन के कारण सजीवता का प्रभावी निर्वाह संभव है।

5) गरिमापूर्ण रचना विधान – लौंजाइनस के अनुसार रचना विधान गरिमापूर्ण होना चाहिए। इसके अंतर्गत् शब्दों, विचारों, कार्यों, सुन्दरता तथा राग के अनेक रूपों का संगुम्फन होता है। उनके अनुसार सामंजस्य रचना का प्राण तत्त्व है। यह उदात्त शैली के लिए अनिवार्य है। उदात्त शैली के सभी तत्त्वों की एकान्विति पर ही कृति गरिमामय बन पाती है। स्वयं लौंजाइनस के शब्दों में, 'वही काव्य सृष्टि उत्कृष्ट है, जो पाठकों को एक बार नहीं, वरन् बार–बार उत्तेजित और उद्वेलित कर सके। जो विभिन्न पेशों, आकांक्षाओं, युगों और भाषाओं के मनुष्यों के सम्मुख बार–बार पढ़ी जाने पर प्रभावित कर सके।

10.4 लघु उत्तरीय प्रश्न –

प्रश्न 1– उदात्त क्या है ? इसके तत्त्वों का नाम लिखिए।

उत्तर– पाश्चात्य आलोचक लौंजाइनस ने अपनी कृति 'पेरिहुप्सुस' में उदात्त तत्त्वों का विश्लेषण किया है। वे इसका अर्थ भावगत महत् उन्मेष से जोड़ते हैं। वे इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं, 'उदात्त अभिव्यंजना का अनिर्वचनीय प्रकर्ष और वैशिष्ट्य है।' वे इसे उस साधन के रूप में लक्षित करते हैं, जिसकी सहायता से महान कवियों और इतिहासकारों ने ख्याति और अनिश्वर कीर्ति अर्जित की है। सर्जनात्मक कौशल और वस्तुविन्यास समग्र रचना में उपस्थित रहते हैं, और वे धीरे–धीरे लगातार उभरते रहते हैं, लेकिन बिजली की कौंध की तरह सही समय पर उदात्त की एक कौंध पूरे विषय को उद्भाषित कर देती है। लौंजाइनस द्वारा प्रस्तुत उदात्त के पाँच स्त्रोतों का उल्लेख पूरे विषय को उद्भाषित कर देती है। लौंजाइनस उदात्त के निम्न पाँच स्त्रोतों का उल्लेख करते हैं – 1) विचारों की ऊर्जस्विता। 2) भावावेग की सघनता। 3) समुचित अलंकार योजना। 4) साधु शब्द विन्यास और 5) गरिमापूर्ण रचना विधान।

इनमें से पहले दो का सम्बन्ध प्रतिभाजन्य भाव सम्पदा से जुड़ता है जबकि शेष तीन का काव्य कला से।

प्रश्न 2– उदात्त के अवरोधक दोष कौन–कौन से हैं ?

उत्तर– लौंजाइनस तीन दोषों को उदात्त का अवरोधक मानते हैं – 1) शब्दाडंबर 2) बालिशता 3) भावाडंबर।

लौंजाइनस 'शब्दाडंबर' को उदात्त का अवरोधक तत्त्व कहते हैं। पर इससे बचना एक कठिन काम है। लौंजाइनस की मान्यता है, 'शब्दाडंबर से बचना बड़ा कठिन है। बात यह है कि कुछ लेखक अशक्तता और शुष्कता से बचने के प्रयास में शब्दाडंबर के शिकार हो जाते हैं। यह रचना का एक अवांछनीय तत्त्व है। शब्दाडंबर उदात्त के अतिक्रमण की इच्छा से उत्पन्न होता है, लेकिन उदात्त का अतिक्रमण करने के बदले वह उसका प्रभाव ही नष्ट कर देता है।'

बालिशता या बचकानापन भव्यता का विलोम है। यह निर्बल और संकीर्ण बुद्धि से उत्पन्न होती है। साथ ही यह लेखन सम्बन्धी दोषों में सबसे हेय है। यह अपरिपक्वता से उत्पन्न बचकाना विस्तार है, जो रचना को जड़ बना देती है।

भावाडंबर या मिथ्याभाव तीसरा दोष है। जहाँ भाव आवश्यक नहीं या संयम की जहाँ आवश्यकता है, वहाँ जब लेखक भाव की अमर्यादित अभिव्यक्ति में प्रवृत्त होता है तो भावाडंबर आ जाता है। शब्दाडंबर, बालिशता और भावाडंबर उदात्त के बाधक या अवरोधक हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

10.4 अति लघु उत्तरीय प्रश्न –

प्रश्न 1– 'पेरिहुप्सुस' के लेखक कौन हैं ?

उत्तर– पेरिहुप्सुस के लेखक लौंजाइनस हैं।

प्रश्न 2– उदात्त के कितने तत्त्व हैं, लिखिए।

उत्तर– उदात्त के पाँच तत्त्व हैं – 1) विचारों की ऊर्जस्विता 2) भावावेग की सघनता 3) समुचित अलंकार योजना 4) साधु शब्द विन्यास और 5) गरिमापूर्ण रचना विधान।

प्रश्न 3– लौंजाइनस उदात्त तत्त्व में किसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं ?

उत्तर– लौंजानइस की दृष्टि में विचारों की ऊर्जस्विता उदात्त का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

प्रश्न 4– उदात्त के कितने दोष हैं।

उत्तर– उदात्त के तीन दोष हैं – 1) शब्दाडंबर 2) बालिशता या बचकानापन 3) भावाडंबर।

10.5 सारांश–

आपने लौंजाइनस की साहित्य आलोचना संबंधी मान्यताओं का विस्तृत अध्ययन किया। उनकी उदात्त संबंधी अवधारणा को पश्चिमी आलोचना में विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अध्याय : 11

मैथ्यू आर्नल्ड (1822–1888)

आलोचना का स्वरूप और प्रकार्य

संरचना

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 दीर्घ उत्तरीयप्रश्न

11.3 अति लघु उत्तरीय प्रश्न

11.4 सारांश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

11.0 प्रस्तावना :

मैथ्यू आर्नल्ड काव्यशास्त्र के आधार स्तंभों में एक हैं। आधुनिक अंग्रेजी आलोचना की शुरूआत मैथ्यू आर्नल्ड से होती है। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का आरंभ काव्य–रचना से किया। काव्य–रचना का सिलसिला 1867 तक चला। इस दौरान लिखी गयी काव्य कृति (1853) 'पोयम्स बाई मैथ्यू आर्नल्ड' में उनकी 'द होवर बीच', 'द स्कॉलर जिप्सी' और 'सोहराब एंड रुस्तम' जैसी महत्त्वपूर्ण कविताएँ संकलित हुयीं। मैथ्यू अर्नाल्ड के काव्य–सिद्धान्तों के मानक रूप को समझने के लिए इन कृतियों से गुज़रना ज़रूरी है। धीरे–धीरे मैथ्यू आर्नल्ड की रूचियों में बदलाव आता गया व आलोचना जगत् में उनकी दिलचस्पी बढ़ती गयी। साहित्य की अन्तर्निहित समझ और सिद्धान्तों के विश्लेषण की दृष्टि से उनकी उल्लेखनीय आलोचनात्मक कृतियाँ हैं – 'कल्चर एंड एनार्की' (1869), लिटरेचर एंड ड्रामा (1873), एसेज़ ऑन चर्च एंड स्टेट (1877), एसेज इन क्रिटीसिज्म प्रथम सिरीज़ और द्वितीय सिरीज (1888, मृत्यु के बाद प्रकाशित)।

विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में भी उनकी आलोचनात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुयी, जिनमें ऑक्सफोर्ड में उनका प्रथम व्याख्यान 'आन द मॉडर्न एलिमेंट इन लिट्रेचर' और वर्ड्सवर्थ के काव्य संग्रह की भूमिका 'द स्टडी ऑफ पोएट्री' उल्लेखनीय है। आर्नल्ड के आलोचना कर्म की केन्द्रीय चिन्ता है सांस्कृतिक चुनौती। वे अपने समकालीन सृजन से असंतुष्ट होकर ग्रीक क्लासिकी काव्य के गुणों को आधुनिकता के नाम पर पुनर्जीवित करने का प्रयास करते हैं। आप इस अध्याय में आर्नल्ड की मान्यताओं से परिचित होंगे।

मैथ्यू आर्नल्ड की आलोचना में कविता और जीवन, कविता और समाज के विभिन्न पहलुओं पर विचार है। उनके अतिवादी नैतिक रुझानों की खूब आलोचना भी हुयी है। टी. एस. एलियट ने 'मैथ्यू आर्नल्ड' पर एक लेख लिखते हुए जीवन को नैतिकता का पर्याप्त मान लेने पर आपत्ति उठायी। उनका कहना है कि सन्त के लिए नैतिकता प्रमुख है, किन्तु कवि के लिए वह गौण है। आर्नल्ड की दृष्टि में काव्य संस्कृति का अन्यतम साधन है। आइए प्रश्नोत्तरों के आलोक में उनकी मान्यताओं को विस्तार से समझें।

11.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से हम–

1. मैथ्यू आर्नल्ड के काव्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का ज्ञान कर सकेंगे,
2. आर्नल्ड की आलोचना दृष्टि को समझ सकेंगे,
3. उनके अनुसार कविता और समाज के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

11.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न –

प्रश्न 1– मैथ्यू आर्नल्ड की आलोचना दृष्टि का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर– मैथ्यू आर्नल्ड अंग्रेजी साहित्य के विक्टोरिया युग में प्रख्यात आलोचक थे। उनकी प्रखर आलोचनात्मक प्रतिभा का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि स्कॉट जेम्स ने लिखा है कि आधी शताब्दी तक वह यवनानी आचार्य अरस्तू की तरह प्रभावशाली बना रहा। मैथ्यू अर्नाल्ड ने किसी अन्य आलोचक की अपेक्षा साहित्यालोचन और समाज के संबंधों पर अधिक सफाई तथा विस्तार से लिखा है। उनकी कृति 'संस्कृति और अराजकता' (कल्चर एंड एनार्की) का मुख्य प्रतिपाद्य यही है। आलोचनात्मक निबन्ध (एसेज इन क्रिटीसिज्म) के अनेक निबंधों की ध्वनि भी यही है। उनकी आलोचना दृष्टि का विस्तार से अध्ययन निम्नांकित उपशीर्षकों के अंतर्गत् संभव है –

कविता और जीवन – वे कविता या साहित्य का लक्ष्य जीवन की आलोचना मानते हैं। वे कहते हैं, 'काव्यगत आलोचना सामान्य आलोचना से इस रूप में भिन्न होती है कि उसकी रचना काव्य–सत्य और काव्य सौन्दर्य के लिए निर्धारित नियमों के अधीन की जाती है।' काव्य सत्य से आर्नल्ड का तात्पर्य विषय वस्तु की मूल्यवत्ता से है, और सौन्दर्य से उनका अभिप्राय अभिव्यंजनागत चारुता और लालित्य रो है। वे कविता रो आलोचना का काम लेकर दरअराल विचार पक्ष एवं उपदेशात्मक वृत्ति पर बल देना चाहते थे। वे जीवन को नैतिक विचारों का पर्याय मानते थे। उनका मानना है कि नैतिक विचारों के विरुद्ध विद्रोह करने वाली कविता असल में जीवन द्रोही होती है एवं नैतिक विचारों के प्रति उदासीन कविता जीवन के प्रति उदासीन होती है। इतने आग्रही रूप में नैतिकता के प्रति पक्षधरता के कारण उन्हें उपदेशक कहा गया।

अपने युग के बारे में उनका विचार था कि जिस युग में हम जी रहे हैं उसमें औद्योगिक विकास तो बहुत हुआ लेकिन नैतिक समृद्धि की आवश्यकता बरकरार रही। वे तत्त्व जो महान कला के लिए आवश्यक होते हैं, उन तत्त्वों का प्रायः अभाव ही रहा। वे आलोचक के लिए लोकमंगल के प्रति नैतिक और सामाजिक उत्साह को अनिवार्य मानते थे। अपने युग की आवश्यकताओं के सन्दर्भ में उन्होंने आधुनिकता का संधान किया। उन्होंने रोमांटिक कवियों की आलोचना करते हुए कहा कि वे अपने युग के विषय में बहुत कम जानते थे। युग चेतना से उनका अभिप्राय विज्ञान, धर्म, दर्शन और समय की प्रचलित विचारधाराओं की समझ से था। इसी आधार पर मैथ्यू आर्नल्ड ने रोमांटिक कवि शेली की तुलना में युग चेतना सम्पन्न प्राचीन कवि गेटे को विशिष्ट ठहराया।

कविता और समाज – शिक्षक और समाज सुधारक वाले दृष्टिकोण के कारण उनकी दिलचस्पी 'कविता क्या है ?' की अपेक्षा 'कविता क्या करती है ?' में अधिक थी। एलियट ने उन्हें आलोचक की अपेक्षा आलोचना का प्रचारक कहना बेहतर समझा। वे प्रचारक के लहजे में अपनी स्थापनाएँ प्रेषित करते हैं। उन्हें विश्वास था कि धीरे–धीरे मनुष्य जाति जीवन की व्याख्या और सहारे के लिए कविता की ओर ही उन्मुख होगी। कविता के बिना विज्ञान अधूरा लगेगा, धर्म और दर्शन का स्थान कविता ले लेगी।

कविता के प्रति उनके इस मसीहाई अंदाज को तत्कालीन आलोचना संसार ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण देन माना। उनकी उद्घोषणा को धार्मिक–अधार्मिक पक्षों ने बहुसतलब माना और अनेक पक्षों ने उनकी स्थापनाओं पर ऐतराज भी जताया। एलियट ने आर्नल्ड पर गौरतलब टिप्पणी की, 'जहाँ वर्ड्सवर्थ और शेली जैसे कवियों के लिए कविता किसी–न–किसी ऐसे दर्शन का माध्यम रही जिसमें कवि की आस्था होती थी, वहीं आर्नल्ड के लिए सर्वोत्तम कविता वह थी जो धर्म और दर्शन दोनों का अतिक्रमण कर सके।

'अतिशय गंभीरता' को आर्नल्ड ने कविता का बहुत बड़ा गुण माना, और कविता में ट्रेजिक पहलू को काफी महत्त्व दिया। वे दुखांतक, उदास और दर्शन से बोझिल रचनाओं को श्रेष्ठ मानते हैं। वे रोमानी और क्लासिकी प्रवृत्तियों के समन्वय बिन्दु पर खड़े आलोचक थे। वे उपदेशात्मक कविता के प्रबल समर्थक बने रहे, चाहे वह कविता भावों की दृष्टि से हल्की या छिछली ही क्यों न हो। विद्रोही प्रवृत्ति के साहसिक कवियों को उन्होंने अस्वीकार किया। महान कविता की महानता से वे इस कदर अभिभूत रहे कि उन्हें 'असली कविता' की चिन्ता नहीं हुयी, उनके मानकों पर सोफ़ोक्लीस, होमर, दाँते, गेटे, मिल्टन जैसे कवि ही ख़रे उतरते हैं। वे भाव संगीत और लय से समृद्ध लेकिन उपदेश वृत्ति से रहित कविता को अस्वीकार करते हैं। आचोलक निर्मला जैन मैथ्यू आर्नल्ड के आलोचना कर्म पर बहुत महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करती हैं, आर्नल्ड को अंग्रेजी के उस परवर्ती रोमांटिक आलोचक के रूप में देखा गया है जिसमें अर्ध क्सालिकी और अर्ध रोमानी चेतना का संगम मिलता है। वे क्लासिकी तेवर और रोमांटिक मिजाज से लैस ठेठ विक्टोरियन थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

11.3 अति लघु उत्तरीय प्रश्न –

प्रश्न 1– मैथ्यू आर्नल्ड किस युग के आलोचक हैं ?

उत्तर– मैथ्यू आर्नल्ड अंग्रेजी साहित्य के विक्टोरिया युग के प्रख्यात आलोचक हैं।

प्रश्न 2– आर्नल्ड की आलोचनात्मक रचनाओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– आर्नल्ड की महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक रचनाएँ हैं – 'कल्चर एंड एनार्की' (1869), लिट्रेचर एंड ड्रामा (1873), एसेज़ ऑन चर्च एंड स्टेट (1877), एसेज इन क्रिटिसिज़्म प्रथम सिरीज और द्वितीय सीरीज़।

प्रश्न 3– आर्नल्ड अपनी किस प्रवृत्ति के लिए आलोचना के पात्र बने ?

उत्तर– आर्नल्ड की आलोचना 'उपदेश वृत्ति' के कारण हुयी।

प्रश्न 4– किस आलोचक को शिक्षक आलोचक के रूप में याद किया जाता है ?

उत्तर– मैथ्यू आर्नाल्ड को शिक्षक आलोचक के रूप में याद किया जाता है।

प्रश्न 5– 'काव्य जीवन की आलोचना है' – किसका कथन है ?

उत्तर– मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा 'काव्य जीवन की आलोचना है।'

11.4 सारांश

आपने यह विस्तार से समझा कि आर्नल्ड के आग्रहों ने किस तरह समकालीन रचनाशीलता के बजाए क्लासिकी रुझानों से समन्वित रचनाशीलताको तरजीह दिया। आप उनकी आलोचनाके केन्द्रीय तत्त्व से रू–ब–रू हुए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अध्याय : 12

टी. एस. एलियट (1888–1965)
परम्परा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा, निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त

संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
12.3 अति लघु उत्तरीय प्रश्न
12.4 सारांश

12.0 प्रस्तावना :

टॉमस स्टर्न्स एलियट (टी. एस. एलियट) बीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी के सर्वश्रेष्ठ कवि और आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्हें नयी आलोचना का जनक भी कहा जाता है। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के आयरविंग बैबिट (मानवतावादी आलोचक) एवं जॉर्ज सांतायना (सौन्दर्यशास्त्री) के प्रिय शिष्यों में से वे एक थे। उन्होंने अध्ययन काल के दौरान संस्कृत और पालि का अध्ययन भी किया। 1925 में वे प्रकाशन संस्थान 'फेबर एंड फेबर' के निदेशक बने। 1922 से उन्होंने 'दि क्राइटेरियन' नामक त्रैमासिक पत्रिका का संपादन किया। उनकी साहित्यिक प्रतिष्ठा में इस पत्रिका ने काफी वृद्धि की। उनकी समीक्षाएँ तथा आलोचनाएँ ही नहीं, 'द वेस्टलैंड' नामक प्रसिद्ध कविता भी पहले–पहल 1922 में क्राइटेरियन में ही प्रकाशित हुयी। 1948 में उन्हें नोबेल पुरस्कार से नवाजा गया। इस अध्याय में आप एलिएट की मान्यताओं का विशिष्ट अध्ययन करेंगें।

एलियट की काव्य रचनाओं में 'द लव सॉंग ऑफ़ एल्फर्ड प्रूफॉर्क (1915) 'द वेस्ट लैंड' (1922) और फोर क्वार्ट्रेट्स (1943) और नाटकों में 'मर्डर इन द कैथिड्रल' (1935), 'द फेमिली रियूनियन' (1939) और 'द कॉकटेल पार्टी' (1950) विशेष लोकप्रिय हुए। आलोचनात्मक कृतियाँ हैं – 'द सेक्रेडवुड' (1920), 'होमेज टु जॉन ड्राइडन' (1924), 'एलिज़ाबेथन एसेज' (1932), 'द न्यूज ऑफ पोएट्री एंड द न्यूज़ ऑफ क्रिटिसिज़्म' (1933), 'सेलेक्टेड एसेज़' (1934) और एसेज़ एशेंट एंड मॉडर्न' (1936)।

एलियट पश्चिम की 'नयी कविता' और 'नयी आलोचना' के प्रेरक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। रोमांटिक कवियों–आलोचकों का यह मानना था कि कविता सहज अंतः स्फूर्त सृष्टि है। एलियट ने 'परंपरा और व्यक्ति प्रज्ञा' शीर्षक निबंध में इस रोमांटिक सिद्धान्त का विरोध करते हुए घोषणा की, 'कविता कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व से पलायन है। इस स्थापना के मूल में वर्ड्सवर्थ के 'सहज उच्छलन' वाले सिद्धान्त का विरोध निहित था जिसके अनुसार कविता को 'प्रबल भावों की अंतः स्फूर्त अभिव्यक्ति' करार दिया गया था। एलियट ने कविता की स्वायत्त वस्तु सत्ता की प्रतिष्ठा पर बल दिया। उनके पूरे आलोचना कर्म में यह घोषणा शुरू से अंत तक रही जिसे उन्होंने निबन्ध संग्रह 'सेक्रेडवुड' में प्रकट किया था, 'जब हम कविता पर विचार करते हैं तब हमें उसे प्रमुखतः कविता के रूप में ही देखना चाहिए किसी और रूप में नहीं।' उनकी आलोचना के दो सिद्धान्तों की धूम रही – 'निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त' और 'वस्तुनिष्ठ समीकरण' (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव) सिद्धान्त।आइए प्रश्नोत्तरों के आलोक में एलिएट की मान्यताओं का विश्लेषण करें।

12.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से हम–

टी. एस. एलिएट के काव्य संसार को समझ सकेंगे,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उनके आलोचना कर्म का विश्लेषण कर सकेंगे,

निर्वैयक्तिता के सिद्धान्त को समझ सकेंगे।

12.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न –

प्रश्न 1– 'परम्परा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा' के आधार पर एलियट के आलोचना कर्म का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर– एलियट की समस्त आलोचना का आधार उनका प्रसिद्ध निबन्ध 'ट्रेडिशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेंट' अर्थात् परम्परा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा है। इस निबन्ध के तीन भाग हैं। पहले भाग में परम्परा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा पर विचार है। उनके विश्लेषणों को इस प्रकार सूत्रबद्ध किया जा सकता है –

1) एलियट की स्थापना है कि प्रत्येक राष्ट्र की प्रत्येक प्रजाति की अपनी सर्जनात्मक ही नहीं, आलोचनात्मक मनोवृत्ति भी हुआ करती है, जिसमें उसकी विशेषताएँ प्रतिफलित रहती हैं।

2) साँस की तरह आलोचना अनिवार्य एवं नैसर्गिक क्रिया है। जब हम कुछ भी पढ़ते, देखते या सुनते हैं उस समय उसके गुण–दोषों का भान मन में सहज भाव से होता चलता है, अंतर इतना ही है कि कभी तो हम उसे अभिव्यक्त करते हैं और कभी नहीं।

3) किसी कवि की उल्लेखनीय प्रशंसा करते समय हम प्रायः उन पक्षों पर बल दिया करते हैं, जिनमें दूसरे कवियों से उसका न्यूनतम साम्य होता है अर्थात् उसमें हम उसकी वैयक्तिक विशेषताएँ देखने का प्रयास करते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह देखते हैं कि जिस कवि को हम पढ़ते हैं, वह पूर्ववर्ती कवियों से किन अशों में भिन्न है, उन्हीं से हम आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। पर यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो पाएँगे कि किसी कवि की रचना में सर्वोत्कृष्ट ही नहीं, सर्वाधिक वैयक्तिक पक्ष भी संभवतः वही होते हैं, जिनमें उसके पूर्ववर्ती, दिवंगत कवियों का प्रभाव बहुत प्रभावी ढंग से व्यक्त हुआ होता है।

एलियट का तात्पर्य है कि वैयक्तिक प्रज्ञा परंपरा से असबद्ध, निरपेक्ष या विच्छिन्न वस्तु नहीं है। परंपरा से जुड़ा रहकर भी, या यो कहें कि जुड़ा रहकर ही, कवि अपनी वैयक्तिक क्षमता को अधिक सफलता तथा रमणीयता से प्रकट कर सकता है। निष्कर्ष यह है कि वैयक्तिक प्रज्ञा के प्रस्फुटन में परंपरा बाधक नहीं, बल्कि साधक और सहायक है।

4) परंपरा के प्रति आसक्ति का तात्पर्य अंधानुकरण नहीं है। अंधानुकरण या निष्प्राण अवृत्ति से नवीनता कहीं अधिक बेहतर है। एलियट की दृष्टि में परंपरा की व्यापक अर्थवत्ता है। उसे दाय या विरासत के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसे प्राप्त करने के लिए कठोर परिश्रम की आवश्यकता है। उसके लिए बुनियादी आधार है– इतिहास बोध।

एलियट के अनुसार परंपरा कोई मृत या अनुपोगी वस्तु नहीं है। वस्तुतः जो मृत या अनुपयोगी है, उसे परंपरा की संज्ञा देना ही अनुचित है। परंपरा तो अविच्छिन्न प्रवाह है जो अतीत के साहित्यिक, सांस्कृतिक दाय के उत्तमांश से वर्तमान को समृद्ध एवं सार्थक बनाती है और भविष्य का पथ प्रशस्त करती है। परंपरा का विस्तार देश और काल दोनों में है। एलियट ने यूरोप का उदाहरण दिया है। भारत के संदर्भ में व्यास, वाल्मीकि से लेकर आज तक का और केरल से कश्मीर तथा गुजरात से असम तक का सारा दाय भारतीय परंपरा में वर्तमान है और उसे जिस कवि ने जितना आत्मसात् किया वह उतना ही सफल और प्रतिष्ठित रचनाकार बना। इतिहास बोध इस परंपरा का अभिन्न अंग है, क्योंकि जब तक इतिहास का सम्यक् अवगाहन नहीं होता तब तक न तो कोई कालातीत को समझ पाएगा, न कालिक को, न उनके पार्थक्य को और न उनके योग को।

5) किसी कवि या कलाकार की पूर्ण सार्थकता केवल निजी रूप में नहीं होती। उसकी सार्थकता, उसकी परिशंसा दिवंगत कवियों और कलाकारों की सापेक्षता में ही होती है। उसके सही मूल्यांकन के लिए उसे प्राचीन या उस रचनाकार के पहले के कवियों के साथ रखना ज़रूरी है। यह केवल ऐतिहासिक आलोचना की दृष्टि से ही नहीं, सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त की दृष्टि से भी सही है। प्रत्येक कला की दृष्टि में पूर्ववर्ती कृतियों का कुछ–न–कुछ समंजन अनिवार्य हो जाता है। नयी कलाकृति के आविर्भाव के पहले विद्यमान महत्त्वपूर्ण कृतियों की एक स्थिर व्यवस्था होती है जो नवीन कृति के आने से थोड़ी बहुत परिवर्तित हो जाती है। वे एक उदाहरण से इसे स्पष्ट करते हैं, जैसे रेल के डिब्बे में किसी नये यात्री के आने पर पहले से बैठे यात्रियों को कुछ–कुछ खिसककर उसके लिए जगह बनानी पड़ती है, वैसे ही किसी नयी कलाकृति की प्रस्तुति के पहले की कलाकृतियों की स्थिति में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कमोबेश हेरफेर होकर रहता है — साम्य–वैषम्य का निर्धारण करने में किसी का मूल्य घटता है, किसी का बढ़ता है।

6) एलियट का कहना है कवि को अतीत का, अर्थात् परंपरा का, ज्ञान तो होना चाहिए लेकिन ज्ञान के भार से आक्रांत नहीं होना चाहिए। कई बार अधिक ज्ञान से काव्य संवेदना या तो निर्जीव हो जाती है या विपर्यस्त हो जाती है। कवि के लिए अतीत की चेतना को विकसित या उपलब्ध करना आवश्यक है, यही नहीं, इस चेतना को उसे आजीवन विकसित करते रहना है। कलाकार की प्रगति सतत् आत्मोत्सर्ग है, व्यक्तित्व का सतत् निर्वापण है। व्यक्तित्व के इस अवैयक्तीकरण से ही कला विज्ञान की स्थिति में पहुँच सकती है।

सारांशतः एलियट ने परंपरा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा विषय पर विचार करते समय — 1) परंपरा की व्याख्या की है। 2) किसी कविता को महत्त्वपूर्ण पूर्ववर्ती कविताओं के साथ समझने–परखने का प्रभावी महत्त्व है। 3) आरंभ से अब तक की कविताओं को एक जीवित इकाई के रूप में परखने की अवधारणा प्रस्तुत की गयी है।

प्रश्न 2— एलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त को समझाइए।

उत्तर— एजरा पाउण्ड का यह मानना था कि कवि वैज्ञानिक के समान ही निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ होता है। इस सिद्धान्त का गहरा प्रभाव टी. एस. एलियट पर पड़ा। कवि का कार्य आत्मनिरपेक्ष होता है। एलियट अनेकता को एकता में बाँधने के लिए परंपरा को आवश्यक मानते थे, जो वैयक्तिकता का विरोधी है। वे साहित्य के जीवन्त विकास के लिए परंपरा का योग स्वीकार करते थे, जिसके कारण साहित्य में आत्मनिष्ठ तत्त्व नियंत्रित हो जाता है और वस्तुनिष्ठ तत्त्व प्रमुख हो जाता है।

एलियट ने आत्मनिष्ठ साहित्य के स्थान पर वस्तुनिष्ठ साहित्य को महत्त्व प्रदान किया। कला को निर्वैयक्तिक घोषित किया और कवि मानस की स्वतंत्र अवतारणा के लिए माध्य मात्र स्वीकार किया, जहाँ भाव एवं अनुभव स्वतंत्रतापूर्वक नए–नए समुच्चय में बँधते रहते हैं। एलियट ने आगे कहा, 'कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता है, वरन् वह विशिष्ट माध्यम–मात्र है। व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति कला नहीं है, वरन् उनसे पलायन कला है। कलाकार की प्रगति निरन्तर आत्म–त्याग, व्यक्तित्व का निरन्तर बहिष्कार है।

काव्य–प्रक्रिया की कलात्मक सघनता — एलियट का 'काव्य की निर्वैयक्तिकता' का सिद्धान्त वर्ड्सवर्थ–कॉलरिज की काव्य सम्बन्धी मान्यताओं के विपरीत था। वर्ड्सवर्थ–कॉलरिज काव्य को भावोद्रेक का उच्छलन मानते थे। रोमांटिक युग की यह अवधारणा कि काव्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है, से एलियट असहमत थे। उनका मानना है कि काव्य का महत्त्व व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति पर निर्भर न होकर, काव्य–प्रक्रिया की कलात्मक सघनता पर निर्भर है। इसलिए कलाकार को निरन्तर कलात्मक प्रक्रिया के प्रति आत्म समर्पण करते रहना चाहिए। एलियट का विचार है कि काव्य की प्रेरणा कवि को मानव–स्थिति की सचेतन अनुभूति से प्राप्त होती है।

निर्वैयक्तिकता के दो रूप — आलोचक जीवन के उत्तरार्द्ध में निर्वैयक्तिकता के सम्बन्ध में उन्होंने निम्न वक्तव्य दिया जो उनकी बात को और अधिक स्पष्ट करता है। उन्होंने कहा, 'निर्वैयक्तिकता के दो रूप होते हैं — एक वह जो कुशल शिल्पी मात्र के लिए प्राकृतिक होती है। दूसरी वह है, जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है। दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ़ कवि की होती है, जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है।

उनके प्रारम्भिक मत की शब्दावली से लोगों को यह भ्रम हो गया कि वे कविता को कुशल शिल्प विधान मानते थे, लेकिन बाद में उनके विचारों में परिवर्द्धन हुआ और वे निर्वैयक्तिकता का आशय मात्र कुशल शिल्पी की निर्वैयक्तिता नहीं लेते। वे कला की निर्वैयक्तिकता को प्रौढ़ कवि के निजी अनुभवों की सामान्य अभिव्यक्ति मानने लगे।

समग्र रूप से एलियट की निर्वैयक्तिकता का अर्थ है — कवि के व्यक्तिगत भावों की विशिष्टता का सामान्यीकरण। कवि अपनी तीव्र संवदेना और ग्रहण–क्षमता से अन्य लोगों की अनुभूतियों को आयत कर लेता है, पर आयत अनुभूतियाँ उसकी निजी अनुभूतियाँ हो जाती है। जब वह अपने इस स्वमुक्त अथवा चिन्तन द्वारा आयत अनुभवों को काव्य में व्यक्त करता है, तो वे उसके निजी अनुभव होते हुए भी सबके अनुभव बन जाते हैं। यहाँ भारतीय काव्यशास्त्र का 'साधारणीकरण सिद्धान्त' की ध्वनि का याद आना एकदम स्वाभाविक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कवि और कलाकृति का परस्पर प्रभाव – एलियट कवि और कलाकृति का परस्पर प्रभावित होना स्वीकार करते हैं, 'मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्रदान करता है, किन्तु मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वह अपने निर्मित पात्रों द्वारा स्वयं प्रभावित होता है।इस परस्पर प्रभाव के कारण सम्पूर्ण काव्यकृति कवि के व्यक्तित्व से निर्मित होती है, कवि ही अपने काव्य जगत् में व्याप्त हो जाता है। वे कवि को काव्य संसार का निर्माता मानते हैं। इस प्रकार एलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त में कवि के व्यक्तित्व का स्वीकार भी शामिल है।

12.3 अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– टी. एस. एलियट का पूरा नाम क्या है ?

उत्तर– टी. एस. एलियट का पूरा नाम है – टॉमस स्टर्न्स एलियट।

प्रश्न 2– टी. एस. एलियट की आलोचनात्मक कृतियों का नाम लिखिए।

उत्तर– टी. एस. एलियट की आलोचनात्मक कृतियाँ है – द सेक्रेट वुड (1920), होमेज टु जॉन ड्राइडन (1924), एलिजाबेथन एसेज़ (1931), द न्यूज ऑफ पोएट्री एंड द न्यूज ऑफ क्रिटिसिज्म (1933), सेलेक्टेड एसेज़ (1934) एसेज़ एन्शेंट एंड मॉडर्न (1936)।

प्रश्न 3– नयी आलोचना के जनक कौन हैं।

उत्तर– नयी आलोचना के जनक टी. एस. एलियट हैं।

प्रश्न 4– एलियट ने किस महत्त्वपूर्ण पत्रिका का संपादन किया ?

उत्तर– एलियट ने 'दि क्राइटेरियन' त्रैमासिक समीक्षा पत्रिका का संपादन किया।

प्रश्न 5– ब्रिटिश साहित्यिक पत्रिका ईगोइसट के सहकारी संपादन का दायित्व किस महत्त्वपूर्ण आलोचक ने संभाला ?

उत्तर– टी. एस. एलियट ने साहित्यिक पत्रिका ईगोइस्ट के सहकारी संपादन का दायित्व संभाला।

प्रश्न 6– एलियट किस प्रकाशन संस्थान के निदेशक थे ?

उत्तर– एलियट 'फेबर एंड फेबर' प्रकाशन संस्थान के निदेशक थे।

प्रश्न 7– परंपरा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा के सिद्धान्त के जनक कौन हैं ?

उत्तर– परंपरा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा सिद्धान्त के जनक टी. एस. एलियट थे।

प्रश्न 8– निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया ?

उत्तर– निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन टी. एस. एलियट ने किया।

प्रश्न 9– कविता कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व से पलायन है। किसने कहा ?

उत्तर– कविता कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व का पलायन है। यह कथन टी. एस. एलियट का है।

प्रश्न 10– वस्तुनिष्ठ समीकरण सिद्धान्त किसका है ?

उत्तर– वस्तुनिष्ठ समीकरण सिद्धान्त टी. एस. एलियट का है।

12.4 सारांश

आपने विस्तारपूर्वक टी.एस. एलिएट की दो महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं को समझा। 'परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा' एवं 'वस्तुनिष्ठ समीकरण' एलियट क्रान्तिकारी विचारों का पाश्चात्य आलोचना सिद्धान्त पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अध्याय : 13

आई. ए. रिचर्ड्स (1893–1979)

व्यावहारिक आलोचना

संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
13.3 लघु उत्तरीय प्रश्न
13.4 अति लघुत्तरीय प्रश्न
13.5 सारांश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

13.0 प्रस्तावना :

ईवर आर्मस्ट्रांग रिचर्ड्स 'नयी समीक्षा' के प्रसिद्ध सिद्धान्तकार हैं। उनका रचना काल पूरी आधी शताब्दी तक फैला है। कॉलरिज के बाद वे ही ऐसे समीक्षक हैं, जिन्होंने अपनी व्यावहारिक आलोचना द्वारा आलोचनाशास्त्र को व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया। आई.ए. रिचर्ड्स का रचनाकाल आधी शताब्दी के लंबे कालखण्ड में विस्तृत है। जेम्स वूड के सहयोगी लेखक के रूप में उनकी पहली कृति द फाउंडेशन ऑफ एस्थेटिक्स का प्रकाशन 1922 में हुआ। उनकी आलोचनात्मक कृतियों के वृहद सरोकारों का अनुमान इन रचनाओं से सहज ही स्पष्ट होता है। प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म (1924) प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म(1929) मेन्सियस ऑफ द माइंड (1931) एक्सपेरिमेंट्स इन मल्टिपिल डेफिनेशन (1932), बेसिक रूल्ज ऑफ रीजन(1933) द फिलॉसफी की ऑफ रेहटरिक(1936) इंटरपर्टेशन इन टीचिंग (1938) द स्पेक्युलेटिव इंस्ट्रमेंट्स (1955) पोएट्रीज देयर मीडिया एंड एंड्स (1973) ओर बियोंड (1974)। इस अध्याय में आप रिचर्ड्स की आलोचना पद्धति से परिचित होंगे।

आलोचना सिद्वान्तों के विश्लेषण के लिए रिचर्ड्स उल्लेखनीय कृति प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म का अध्ययन जरूरी है। इस कृति में मूल्य सिद्धान्त, भाषा सिद्धान्त, अर्थ मीमांसा आदि पर गहराई से विचार हैं। इस पुस्तक के पाँच वर्षों बाद 1929 में 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' पुस्तक का प्रकाशन हुआ। इस ग्रन्थ की रचना कर उन्होंने अपने विभिन्न अतिवादों ओर असंतुलित स्थापनाओं से एक हद तक मुक्ति पा ली। आइए और विस्तार से उनकी मान्यताओं का मूल्यांकन करें।

13.1 उद्देश्य

इस अध्याय के के अध्ययन से हम–

–रिचर्डस के काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों को जान सकेंगे,

–उनकी व्यवहारिक आलोचना की विभिन्न स्थापनाओं का विश्लेषण कर सकेंगे,

–उनकी सम्प्रेषण सम्बन्धी मान्यताओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

13.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– रिचर्ड्स की व्यावहारिक आलोचना की विभिन्न स्थापनाओं का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर– रिचर्ड्स ने 1929 में एक पुस्तक की रचना की 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म'। यह उनकी आलोचनात्मक कृतियों में सर्वाधिक उल्लेखनिय रचना है। व्यावहारिक आलोचना की योजना मौलिक है। यह ग्रन्थ अतिवादों से एक हद तक मुक्त है, एवं इसमें प्रतिपादित विचार तथा निष्कर्ष बहुत अधिक संतुलित हैं। अनेक वर्षों के अध्यापन अनुभव और ज्ञान की परिपक्वता का व्यावहारिक आलोचना में महती योगदान है।

आई.ए. रिचर्ड्स के अनुसार, इस ग्रन्थ की रचना के पीछे तीन उद्देश्य रहे हैं –

1) समसामयिक सांस्कृतिक परिदृश्य में अभिरुचि रखनेवालों आलोचकों, दार्शनिकों, शिक्षकों, मनोवैज्ञानिकों या जिज्ञासुओं के लिए एक नये ढंग का संलेखन प्रस्तुत करना।

2) वैसे लोगो को एक नयी प्रविधि देना जो इस बात की स्वयं मीमांसा करना चाहते हैं कि काव्य के संबंध में वे क्या सोचते–विचारते हैं और किसी कृति को वे 'पसंद या नापसंद' करें तो क्यों ?

3) शैक्षिक प्रणालियें का एक ऐसा मार्ग प्रशस्त करना जो प्रचलित प्रणालियों से अधिक उपयुक्त हो, साथ ही, हम जो सुनते या पढ़ते हैं, उसके बोध एवं विवेचन को विकसित करने में सहायक हो। तात्पर्य यह है कि सांस्कृतिक, वैचारिक तथा शैक्षिक उद्देश्यों की सिद्वि के लिए इस ग्रन्थ की रचना की गयी।

व्यावहारिक आलोचना की पद्धति – ग्रन्थ की रचना प्रक्रिया में जिस पद्धति का उपयोग किया गया वह रोचक और काफी वस्तुपरक है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के व्याख्याता के रूप मे रिचर्ड्स अच्छी–से–अच्छी एवं साधारण–से–साधारण कविताओं के मुद्रित पन्नों की पाठकों के बीच इस अनुरोध के साथ वितरित करते कि वे पूरी स्वतंत्रता से उन कविताओं पर अपनी टिप्पणीयां लिख कर दें। इस प्रयोग में विभिन्न सतर्कताएं बरती गयीं, जैसे कवियों के नाम और टिप्पणीकारों के नाम गुप्त रखे जाते थे। विश्लेषक कविता के पक्ष एवं विपक्षा में किसी तरह प्रभावित न हों, इसका ध्यान रखा गया। यह बाध्यता नहीं थी कि संलेखक या विश्लेषक विश्लेषण लौटाए ही। फिर भी– सामान्यतः साठ प्रतिशत ने टिप्पणी के साथ संलेख या विश्लेषण लौटाए जा सकते थे जो उनकी प्रबल साहित्यिक रुचि का प्रमाण था। इस प्रक्रिया में कुल तेरह कविताएं वितरित की गयीं। पाठकों ने उनपर सैकड़ों टिप्पणियां प्रेषित कीं, जिनका रिचर्ड्स ने विश्लेषण किया।

व्यावहारिक आलोचना के चार भाग :– व्यावहारिक आलोचना के चार भाग हैं – पहले भाग में भूमिका है, जिसमें इस योजना का, इसके उद्देश्यों का और टिप्पणियों से प्राप्त निष्कर्षों का संक्षिप्त वर्णन है। दूसरे भाग में वितरित 13 कविताओं पर पाठकों अर्थात संलेखकों से प्राप्त टिप्पणियों का विस्तृत आलोचनात्मक विश्लेषण है। तीसरे भाग में दूसरे भाग के आधार पर सामान्य अर्थ से सूक्ष्म अर्थ और अभिव्यक्ति की भंगिमाओं की तह तक पहुँचने में पाठकों की सीमाओं का एवं अलंकार, लय, काव्यरूप आदि का विशद् विवेचन है। चौथे भाग में सम्पूर्ण विश्लेषण का सार तथा अनुशंषाएं है।

रिचर्डस ने इस ग्रन्थ के प्रयोजन पर टिप्पणी की, 'काव्य का तथा उन साधनों का निरूपण' जो काव्य के बोध, परिशंसन तथा मूल्यांकन के लिए अपेक्षित हैं। काव्य स्वयं सम्प्रेषण का एक प्रकार है। वह किस वस्तु का, कैसे संप्रेषण करता है और संप्रेषित वस्तु का क्या मूल्य है, यही देखना आलोचना का विषय है।

सम्प्रेषण संबंधी मान्यताएँ और व्यावहारिक आलोचना – व्यावहारिक आलोचना एक तरह से रिचर्ड्स की सम्प्रेषण सम्बन्धी मान्यताओं के समर्थन का प्रयोग है। इसमें रिचर्डस ने संलेखकों की अनुक्रियाओं का विश्लेषण कर यह दिखाने का प्रयास किया है कि सम्प्रेषणा की सफलता किन कारणों से बाधित तथ अवरुद्ध होती है। चूंकि सम्प्रेषण का निरूपण ही आलोचना का मेरुदंड है इसलिए सम्प्रेषण संबंधी कठिनाईयाँ एक अर्थ में आलोचना संबंधी कठिनाइयाँ हैं। वे अलोचना की दस बाधाओं का उल्लेख करते हैं :–

1) सबसे पहली बाधा सामान्य अर्थबोध की है। साधारण ही नहीं अच्छे पाठक भी इस बाधा के शिकार है। जहाँ अर्थ बोध ही दुष्कर हो वहां भावना वचनभंगी और उद्देश्य के ग्रहण में भूल होना स्वाभाविक है।

2) इसी के समानांतर और इससे संबद्व एन्द्रिक परिशंसन की कठिनाइयाँ हैं। रिचर्ड्स का कहना है कि मौन पाठ के बावजूद अनुक्रम में आए शब्दो का आंतरिक स्रोत आंतिरिक जिह्वा तथा स्वरतंन्त्री में एक रूप व्यक्त हुआ करता है। उनमें गति और लय दोनों होती है जो सहदय और संवेदनशील हैं उनके लिए इस मानसिक रूप का ग्रहण आसान होता है और जो वैसे नहीं है उनके लिए दुष्कर है।

3) इसके बाद कठिनाई विंबविधान, विशेषकर चाक्षुष बिंबविधान की आती है। एक पाठक के मन में जो विंबविधान जागृत होता है, वह बिल्कुल उसी रूप में दूसरे व्यक्ति के मन में जागृत नहीं होता, हो भी नही सकता । आलोचना में अन्तर का यह एक जबर्दस्त कारण है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4) कविता आस्वाद के समय स्मृतिविषयक अप्रासंगिकताओं का भी प्रबल एवं व्यापक प्रभाव देखा जाता है। अतीत के व्यक्तिगत दृश्य, घटना, साहचर्य, भाव, काव्य आस्वाद में बाधा उत्पन्न करते हैं। यहाँ आशय अप्रासंगिक स्मृतियों से है।

5) कभी कभी संप्रेषण घिसी–पिटी अनुक्रियाओं मे फँस जाता है, जिन्हें रिचर्ड्स आलोचना का जाल कहते हैं। घिसी पिटी अनुक्रियाएँ– जैसे धर्म या सामाजिक व्यवस्था की बद्धमूल धारणाएँ काव्य के भाव को ढँक देते हैं। आरोपित अर्थ आलोचना की वस्तुनिष्ठता पर प्रभाव डालते हैं।

6) अतिभावुकता एक अन्य तरह का ख़तरा है, जिससे काव्य ग्राह्यता बाधित होती है।

7) अवरोध एक हद तक भावुकता का विलोम है भावुकता से जहाँ मन अनायास द्रवित हो उठता है वहीं अवरोध में प्रयास के बावजूद मन द्रवित नहीं होता।

8) सिद्वान्तमूलक आसंजन भी अनेक बार संप्रेषण में बाधा का कारण बनते हैं विशेष कर धार्मिक काव्य इसके उदाहरण हैं। धार्मिक काव्यों में अनेक मत और विश्वास ऐसे होते हैं, जिन्हें स्वीकार करना या जिन से सहमत होना सभी पाठकों के लिए संभव नहीं होता। परिणामतः मूल्यांकन बाधित होता है।

9) प्राविधिक पूर्व कल्पनाओं के प्रभावस्वरूप भी संप्रेषण बाधित होता हैं कभी कोई प्रविधि तर्कसंगत लगती है तो हम उसके प्रति इस तरह आग्रहशील हो जाते हैं कि भविष्य में भी हम उसकी जहाँ ज़रूरत न हो वहां भी प्रयोग में लाने लगते हैं। उसी तरह किसी विशेष प्रयोजन के लिए यदि कोई प्रविधि कभी अनुपयुक्त प्रमाणित हो गयी हो तो हम उसे सर्वथा त्याज्य मान लेते हैं। रिचर्ड्स प्राविधिक विवरणों को आलोचना का बाह्य अतः गौण, तत्त्व मानते हैं।

10) सामान्य आलोचनात्मक पूर्वग्रह भी विभिन्न रूपों में काव्य और पाठक के बीच व्यवधान उपस्थित करते हैं। अनेक सिद्वान्त ऐसे होते हैं, जो सामान्यतः हमारी धारणाओं में घर बना लेते हैं। जैसे काव्य की प्रकृति ऐसी होनी चाहिए, काव्य का मूल्य ऐसा होना चाहिए और वे तदनुरूप काव्य की ही माँग करते हैं।

आई. ए. रिचर्ड्स के अनुसार, काव्य के सुचिंतित अध्ययन और मूल्यांकन की अर्थात् व्यावहारिक आलोचना की ये दस प्रमुख बाधाएँ या कठिनाईयाँ हैं।

13.3 लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– रिचर्ड्स ने व्यावहारिक आलोचना सिद्वान्त निर्माण के लिए किस प्रविधि का उपयोग किया?

उत्तर– रिचर्ड्स ने सांस्कृतिक, वैचारिक तथा शैक्षिक उद्देश्यों के लिए व्यावहारिक आलोचना के सिद्वान्त की प्रस्तुति की। उन्होंने सिद्धान्त निर्माण में जिस प्रविधि का उपयोग किया वह बेहद रोचक है। जब वे कैम्ब्रिज में अंग्रेजी के व्याख्याता के रूप में कार्यरत थे तब वे अच्छी से अच्छी और साधारण से साधारण कविताओं के छपे हुए पन्नों को पाठकों के बीच इस अनुरोधा के साथ वितरित करते कि वे बिना किसी आग्रह के कविताओं का विश्लेषण कर टिप्पणियाँ लिखें। इस प्रयोग में अनेक सतर्कताएं बरती जाती थीं। कविताओं के रचनाकारों के नाम गुप्त रखे जाते थे। कविता के पक्ष या विपक्ष में विश्लेषक की राय प्रभावित न हो इसका ख्याल रखा जाता था। प्रत्येक संलेखक या विश्लेषक से यह आग्रह था कि वे जितनी बार कविता पढ़ें वह संख्या की अंकित करें। ज़्यादातर लोगों ने कम–से–कम चार बार अध्ययन किया। इससे निष्कर्ष निकला कि कविता का अध्ययन सम्यक् ढंग ये हुआ। संलेखकों या विश्लेषकों में स्त्री–पुरुष अनुपात बराबर थे। उल्लिखित प्रविधि का उपयोग इसलिए किया गया कि मूल्यांकन के बाद सिद्वान्त निर्माण अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ हो।

13.4 अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– रिचर्ड्स का पूरा नाम लिखिए।

उत्तर– रिचर्ड्स का पूरा नाम ईवर आर्मस्ट्रांग रिचर्ड्स था।

प्रश्न 2– रिचर्ड्स का रचना काल कितने वर्षों तक फैला है ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उत्तर– रिचर्ड्स का रचना काल आधी शताब्दी तक फैला है।

प्रश्न 3– रिचर्ड्स की पहली कृति कौन सी है ? इसका प्रकाशन कब हुआ ?

उत्तर– रिचर्ड्स की पहली कृति थी 'द फाउंडेशन ऑफ एस्थेटिक्स' जिसका प्रकाशन 1922 में हुआ।

प्रश्न 4– रिचर्ड्स को किस सिद्वान्त के आधार पक्ष निर्माण का श्रेय दिया जाता है ?

उत्तर– नयी समीक्षा को सैद्वान्तिक आधार प्रदान करने वाले आलोचकों में रिचर्ड्स अग्रणी माने जाते हैं।

प्रश्न 5– रिचर्ड्स की अंतिम रचना कौन है ? इसका प्रकाशन कब हुआ ?

उत्तर– रिचर्ड्स की अंतिम रचना 'बियोंड' है जिसका प्रकाशन 1974 में हुआ।

प्रश्न 6– रिचर्ड्स अपनी किस कृति के लिए सर्वाधिक प्रसिद्व हुए ?

उत्तर– रिचर्ड्स को अधिक महत्व और प्रसिद्वि 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' से मिली।

प्रश्न 7– रिचर्ड्स की व्यावहारिक आलोचना से सम्बन्धित ग्रन्थ का नाम लिखिए ?

उत्तर– 1929 में रिचर्डस की व्यावहारिक आलोचना से सम्बन्धित कृति प्रकाशित हुयी, जिसका नाम है 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म'।

प्रश्न 8– कॉलरिज से सम्बन्धित रिचर्ड्स की कृति कौन थी ?

उत्तर– कॉलरिज से सम्बन्धित रिचर्ड्स की कृति थी– कॉलरिज ऑन इमेजिनेशन।

प्रश्न 9– पाश्चात्य काव्यशास्त्र में किस आलोचक ने पहले–पहल संप्रेषण और पाठकों के सम्बन्ध के अध्ययन हेतु प्रयोगशाला पद्वति अपनायी ?

उत्तर– रिचर्ड्स ने पहले पहल संप्रेषण और पाठकों के सम्बन्ध के अध्ययन हेतु प्रयोगशाला पद्वति अपनायी।

प्रश्न 10– रिचर्ड्स के समकालीन किसी महत्वपूर्ण आलोचक का नाम बताइए।

उत्तर– रिचर्डस के समकालीन महत्वपूर्ण आलोचक हैं– टी. एस. एलियट।

13.5 सारांश

इस अध्याय में आपने रिचर्ड्स की साहित्यिक मान्यताओं का समग्र अवलोकन किया। आइ. ए. रिचर्ड्स ने 'नयी समीक्षा' के आधारभूत चिंतन की पीडिका का निर्माण किया, जिसे आपने विस्तार से समझा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अध्याय : 14

सिद्धान्त और वाद

स्वच्छंदतावाद, अभिव्यंजनावाद, मनोविश्लेषण तथा अस्तित्ववाद

संरचना

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 स्वछन्दतावाद

14.3 अभिव्यंजनावाद

14.4 मनोविश्लेषणवाद

14.5 अस्तित्ववाद

14.6 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

14.7 लघु उत्तरीय प्रश्न

14.8 अति लघुउत्तरीय प्रश्न

14.9 सारांश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

14.0 प्रस्तावना :

पाश्चात्य साहित्य चिंतन के विकास क्रम का जब हम अध्ययन करते हैं तो यह पाते है कि उन्नीसवीं सदी के अंतिम दौर से लेकर अब तक साहित्य तथा समालोचना सम्बन्धी कई सिद्धान्त सामने आए। पश्चिम की ये अवधारणाएँ हिन्दी आलोचना संसार में इस कदर घुल–मिल गयी हैं, कि उनके बिना आधुनिक हिन्दी आलोचना की अवधारणा अधूरी लगती है। आइए विस्तार से समझें।

14.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से हम–

1. हिन्दी आलोचना में स्वछन्दतावाद की अवधारणा समझ सकेंगे।
2. अभिव्यंजनावाद को समझ सकेंगे
3. मनोविश्लेषणवाद की जानाकरी प्राप्त कर सकेंगे।
4. अस्तित्ववाद को ज्ञान सकेंगे।

समकालीन आलोचना में कुछ पद बार–बार व्यवहृत होते हैं, जैसे– स्वछंदतावाद, अभिव्यंजनावाद, मनोविश्लेषण, अस्तित्ववाद आदि। इस अध्याय में आप इन प्रविधियों का विशेष अध्ययन करेंगे।

14.2 स्वच्छंदतावाद

स्वच्छदतावाद का उन्मेष अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक व उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक दशक में हुआ। फ्रांस की 1789 की राज्य क्रान्ति से इस धारा का गहरा संबंध हैं। रोमैंटिसिज़्म या स्वच्छदंतावाद को प्रायः 'क्लासिसिज़्म' अथवा आभिजात्यवाद के परिप्रेक्ष्य में रखकर उसकी विरोधी प्रवृति के रूप में देखा जाता है। आभिजात्यवाद साहित्य के लिए वस्तुपरक शास्त्रीय नियमों का अनुशासन आवश्यक मानता है, वहीं स्वच्छदतावाद का जोर आत्मपरकता तथा रचनाकार की स्वतंत्रता के अधिकार पर है।

स्वच्छंदतावाद की प्रवृतियों या विशेषताओं की चर्चा मुख्य रूप से वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स, बायरन आदि कवियों को घ्यान मे रखकर की गयी। इस काव्य आंदोलन को तार्किकता के विरुद्ध भाव का विद्रोह माना गया। इससे इसकी दो महत्वपूर्ण विशेषताओं का पता चलता है– विद्रोह तथा भावप्रवणता। साहित्य में यह विद्रोह जड़ता, रूढ़ियों तथा अप्रासंगिक लेखन परंपराओं से लेखक की मुक्ति के प्रयास में दिखायी देता है, यह साहित्य की अंतर्वस्तु तथा रूप, दोनो स्तरों पर अभिव्यक्त है। विषयवस्तु के स्तर पर इस धारा के रचनाकारों ने उदात्त चरित्रों की गाथा की जगह साधारण मानव के सामान्य अनुभवों तथा अपने परिवेश एवं प्रकृति के सहज सामान्य रूपों को अंकित किया। जनसाधारण के जीवन में यह रूचि कृत्रिमता के विरूद्ध स्वाभाविकता और सहजता की प्रतिष्ठा करती है। शैली में वैविध्य इस काव्यधारा की विशेषता है। पर सहज–सामान्य के प्रति रुझान सबकी विशेषता है।

14.3 अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजनावाद की चर्चा मुख्यतः साहित्यालोचन एवं काव्यशास्त्रीय सिद्वान्तों के रूप में होती है। इस सिद्वान्त के प्रतिपादक बेनेदितो क्रोचे साहित्यशास्त्री न होकर मूलतः दार्शनिक तथा सौन्दर्यशास्त्री थे। यह सिद्वान्त मूलतः सौन्दर्यशास्त्र से संबद्ध है। सन 1900 में क्रोचे रचित निबंध 'एस्थेटिक एज़ द साइंस ऑफ एक्सप्रेशन एंड जेनरल लिंग्विस्टिक्स में इसकी पहली रूपरेखा मिलती है। इस पुस्तक में सौन्दर्यशास्त्र से संबंधित क्रोचे के तीन भाषण संकलित हैं। अभिव्यंजना सिद्वान्त इस ग्रन्थ की मूलभूत स्थापना है। क्रोचे रचित अभिव्यंजना सिद्धान्त सहजानुभूति अभिव्यंजना पर आधारित है, जो उनके अनुसार चेतना की सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्रिया है। उनका मत है कि सहजानुभूति से ही व्यक्ति को यथार्थ का ज्ञान होता है। यह प्रतीति बौद्दिक अथवा तर्कसिद्व ज्ञान पर निर्भर न होकर अपने आप में स्वतंत्र क्रिया है। उसी तरह यह इंन्द्रियगत संवेदन से भी भिन्न होती है, क्योंकि संवेदना में चेतना सर्जनात्मक रूप से सक्रिय नहीं होती । वह पूरी तरह बाह्य वस्तु या उद्दीपक का प्रभाव भर होता है जिसे मन निष्क्रिय रूप से ग्रहण करता है। सहजानुभूति चूँकि चेतना में यथार्थ की प्रतीति के रूप में उभरती है और चेतना ही अंतिम तथा शाश्वत सत्य है, इसलिए वस्तुजगत का रूप–रंग रेखामय तत्त्व इसके आगे गौण हैं। क्रोचे के मत में यह सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है।

14.4 मनोविश्लेषणवाद

मनोविश्लेषण के जन्मदाता फ्रायड थे, अतः इस प्रबन्ध से उन्हीं के सिद्धान्त का बोध होता है। कला एवं साहित्य रूपों पर उनके विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। फ्रायड के सिद्वान्त को यौनवाद भी कहा जाता है। मनोवैज्ञानिक फ्रायड के अनुसार कला और धर्म, दोनों का उद्भव अचेतन मन की संचित प्रेरणाओं और इच्छाओं में ही होता है– इस काम शक्ति के उन्नयन के फलस्वरूप कलाकार सर्जन करता है। मानसिक जीवन में यथार्थ और सुख की कामना के बीच जो संघर्ष होता है, उसका समाधान कलाकार कला के द्वारा करता है लेकिन मनोविश्लेषण केवल फ्रायड तक सीमित नहीं है, अन्य मनोविश्लेषकों जैसे युंग, एडलर ने फ्रायड से अलग सिद्वान्तों का प्रणयन किया है।

14.5 अस्तित्वाद

अस्तित्ववाद जो कि एक दार्शनिक और साहित्यिक चिन्तनपद्धति है, का उद्गम स्त्रोत जर्मन दार्शनिक हेडेगर, यास्पर्स, मार्सेल की विचार पद्वातियों में देखा जा सकता है। इन विभिन्न चिन्तकों के मतवादों का संघटन वर्तमान युग में फ्रांस में हुआ, जहाँ अस्तित्ववाद को साहित्यिक ख्याति ज्यां पाल सार्त्र के माध्यम से 1943 ई. के आस–पास मिली। यह विचारधारा मानव जीवन को मूलतः निरर्थक मानती है। तर्क को नाकाफ़ी समझकर उसे छोड़ देती है। परम्परागत ईश्वर में उसकी आस्था नहीं है। इस दृष्टि में प्रत्येक क्षण का अतुलनीय महत्व है। मनुष्य अस्तित्ववादी चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है। जीवन का जीवित सन्दर्भ इस दर्शन का आधार है।

14.6 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– 'स्वच्छन्दतावाद' क्या है ? इस धारा की प्रमुख विशेषताओं को उद्घाटित कीजिए।

उत्तर– स्वच्छन्दतावाद या रौमैंटिसिज्म की अवधारणा प्रायः आभिजात्यवाद की विरोधी प्रवृति के रूप में व्याख्यायित की जाती है। आभिजात्यवाद साहित्य के लिए वस्तुपरक शास्त्रीय नियमों का अनुशासन आवश्यक मानता है, वहीं स्वच्छंदतावाद आत्मपरकता एवं रचनाचार की स्वायत्तता के अधिकार का दावा करता है। स्वच्छन्दतावादी साहित्यिक प्रवृति वस्तुवादी, शास्त्रवादी एवं आदर्शवादी अनुशासन से प्रेरित गद्यात्मक साहित्य के विरुद्ध वस्तु तथा भाषा के स्तर पर भावुकता, चारुत्व तथा रमणीयता से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

युक्त साहित्य की तरफदारी करती है। आज स्वच्छंदतावाद का प्रयोग मूलतः अंग्रेजी साहित्य की उस प्रवृति के लिए होता है जो 18 वीं सदी के अन्त में अभिव्यक्त हुयी। तत्कालीन रचनाकारों ने अपने पक्ष मे तर्क देते हुए साहित्यिक रूढ़ियों को तोड़ने और वैयक्तिक भावोन्मेष को शब्दाकार देने का प्रयास किया, स्पष्टतः वे सम्पूर्ण सचेत भाव से एक विशेष उद्देश्य सामने रखकर इस प्रवृति का अनुसरण कर रहे थे। इस प्रवृति के ठीक पहले वे प्रवृत्तियाँ सक्रिय थीं, जिनके बीच स्वच्छंदतावाद की पृष्ठभूमि तैयार हुयी। साहित्य में गरिमा, संतुलन एवं अनुशासन लाने के लिए 17 वीं 18 वीं शताब्दी में बेन जॉनसन, ड्राइडन, पोप आदि ने जिस नव आभिजात्यवादी दृष्टि को अपनाया वह रूढ़ि में तब्दील हो चुकी थी। इस स्थिति के विरूद्ध विलियम ब्लैक, रॉबर्ट बर्न्स जैसे कवियों ने पहल की। सन् 1798 में विलियम वर्ड्सवर्थ तथा सैमुअल टेलर कॉलरिज के सहयोगी संकलन 'लिरिकन बैलेड्स' का प्रकाशन हुआ। इस रचना ने अतिबुद्विवादी रूढ़ियों को स्पष्ट रूप से चुनौती दी, इसे रचनाकारों द्वारा 'तार्किकता के विरूद्ध भाव का विद्रोह' कहा गया। विद्रोह और भाव प्रवणता से युक्त वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज शेली, कीट्स, बायरन आदि की रचनाओं का तत्कालीन समय में काफी स्वागत हुआ। इस धारा की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन इस प्रकार संभव है –

1) विद्रोह की प्रवृति – फ्रांस की राज्य क्रान्ति के गहरे प्रभाव के कारण इस धारा की रचनाओं में विद्रोह की प्रवृति का स्वाभाविक वर्णन है। इस धारा में न केवल भौतिक शक्तियों के अत्याचार और अन्याय के विरूद्ध ही, अपितु नीति, धर्म, साहित्यिक परम्पराओं और शास्त्रीय नियमों के विरूद्ध भी विद्रोह मिलता है। वर्ण्य विषय का आभिजात्य होना आवश्यक नहीं माना गया, साधारण–से–साधारण वस्तु जैसे खंडहर, सूखी पत्ती, स्काई लार्क, मृत्यु, कब्र पश्चिमी हवा आदि ने काव्य विषय की गरिमा प्राप्त की। आभिजात्य या कुलीन के स्थान पर साधारण और कुलीन को वाणी दी गयी।

2) कृत्रिमता से मुक्ति – कृत्रिमता एवं आडंबर को अलविदा कर दिया गया। कृत्रिम, अयर्थाथ लेखन शैली के स्थान पर शैलीगत सरलता को अपनाया गया। 1798 में प्रकाशित 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका को रोमैटिसिज्म का सिद्धान्त पत्र कहा गया। उसके एक अंश को यहाँ उद्धृत करना मौजू होगा– 'ये कविताएँ इसी बात का पता लगाने के लिए लिखी गयी हैं कि मध्य तथा निम्न वर्ग के लोगों की बोलचाल की भाषा काव्यानन्द के लिए उपयोगी हो सकती है। ये लोग सामाजिक मिथ्या अहंकार से मुक्त होने के कारण अपने भावों और विचारों को सरल, अकृत्रिम, शब्दों में व्यक्त करते हैं।

3) मध्ययुग का प्रत्यावर्तन – बौद्विकता, तर्क, विवेक की अधिकता आदि से ऊबकर इस धारा के रचनाकार मध्ययुग के साहित्य और शिल्पकला के प्रति पर्याप्त रुचि लेते हैं। अर्थात् मध्य युग के गीतों, गाथाओं तथा रूमानी कहानियों की ओर आकर्षण स्वच्छन्दतावाद की एक अन्य प्रमुख विशेषता है।

4) कल्पना की प्रधानता – लगभग समस्त स्वच्छन्तावादी रचनाकारों में कल्पना की प्रधानता है। कल्पना ने ही उनकी अभिव्यक्ति को प्राचीन से भिन्न, अदभुत और मनोरम बना दिया। हालाँकि अनेक बार कल्पना की अतिशयता के कारण काव्य अमूर्त, सूक्ष्म और विरल भी हो उठता है। आर्नल्ड ने शेली की ऐसी कविताओं पर टिप्पणी की है, 'वह एक ऐसा देवदूत है जो अपने चमकीले पंखों को शून्य में व्यर्थ ही फड़फड़ाता रहता है।'

5) अद्भुत तत्व – अतिमानवीय तत्वों के चित्रण के स्थान पर स्वच्छन्दतावादी सामान्य और दैनिक जीवन के प्रसंगों में अदभुत तत्त्वों की तलाश करते हैं, और काव्य को प्रभावी बना देते हैं। इसे अद्भुत का पुनर्जागरण की संज्ञा दी गयी।

6) व्यक्तिवाद – वैयक्तिकता बोध स्वछन्दतावाद की एक प्रमुख प्रवृति है। व्यक्तिवाद के कारण कवि अपनी दृष्टि, अपनी भावना और अपनी रूचि को प्रधानता देता है। इस धारा की कविताओं में नायक आत्मकेन्द्रित होता है। गीति काव्यों में उदासी, निराशा, वेदना, व्यथा का चित्रण होता है। इस धारा के काव्य में विवेक के स्थान पर संवेग, भावुकता, आकांक्षा, आदर्शमयता होती है।

7) प्रकृति प्रेम – प्राकृतिक दृश्यों के प्रति स्वच्छन्दतावादी कविता की विशेष दिलचस्पी है। प्रकृति के विभिन्न रूपों के प्रति स्वच्छंदतावादी रचनाकारों ने अटूट प्रेम का परिचय दिया है। इस प्रकार स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा ने नये काव्य आस्वाद को संभव किया।

प्रश्न 2– अभिव्यंजनावाद क्या है ? इसके स्वरूप का वर्णन कीजिए।

उत्तर– अभिव्यंजनावाद के आदर्श को माननेवाले समीक्षक अपने को इतालवी दार्शनिक एवं विचारक क्रोचे (1866–1952) का अनुयायी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कवि या कलाकार अपने अन्दर की भावना को बाहर अभिव्यक्त करता है, बाहय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वस्तु को नहीं। यह भावना उसकी निजी होती है। इस सिद्धान्त के मतानुसार कलाकार का काम यथार्थ का प्रतिनिधिमूलक चित्रण करना नहीं है। वह या तो अपने अन्तर की भावना के अनुरूप यर्थाथ को चित्रित करता है या इस यर्थाथ को स्पर्श ही नहीं करता । वह केवल अपने मन की एक अवस्था को अभिव्यजित करता है। इस अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द, रंग आदि से निर्मित ढाँचा होता है।

अभिव्यंजना का अर्थ – क्रोचे के अनुसार अन्तर्ज्ञान और अभिव्यंजना में अभेद है। दोनों दो नहीं एक हैं। अन्तर्ज्ञान अर्थात् कवि की चेतना में बिम्बों का उदय, यही अभिव्यंजना है। कलाकार के मन में बिंबों का उदय चाहे वे शब्दमय बिंब है, चाहे रंग रेखामय या किसी अन्य प्रकार के ही अभिव्यंजना है। अन्तर्ज्ञान से अभिन्न होने के कारण अभिव्यंजना एक आन्तरिक व्यापार है जो ज्ञानमय है। उसका उत्स भी आत्मा है और संचरण का क्षेत्र भी इस प्रकार अभिव्यंजना के दो गुण हुए– प्रथम अभिव्यंजना का उत्स आत्मा है, या द्वितीय यह कि अभिव्यंजना व्यापार मन में ही पूरा हो जाता है। बाह्य अभिव्यंजना कलात्मक व्यापार का अन्तिम चरण नहीं है।

क्रोचे ने अपनी बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहा, प्रत्येक व्यक्ति में अभिव्यंजना होती है, मगर कलाकारों की शक्ति व्यापक होती है, इसलिए सामान्य व्यक्ति की तुलना में कलाकारों की अभिव्यजंनाएँ अनेक होती है। यहाँ उनके उद्धरण को उद्धृत करने पर बात और स्पष्ट होगी, 'सत्य तो यह है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति के अंदर कवि, मूर्तिकार, संगीतज्ञ, चित्रकार, गद्य लेखक का थोड़ा अंश विद्यमान रहता है, किन्तु इन कलाकारों की तुलना में यह अंश कितना न्यून होता है, यह स्पष्ट है। इसका कारण यही है कि इन कलाकारों के अन्दर मानव – प्रकृति की शाश्वत और सार्वभौमिक प्रवृतियाँ और शक्तियाँ महत् राशि में वर्तमान होती हैं।'

अभिव्यंजना और सहज ज्ञान – क्रोचे के मतानुसार सौन्दर्य सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति है। चूँकि सहजज्ञान और अभिव्यंजना अभेदात्मक हैं, इसलिये यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य सहजज्ञान है। अथवा सौन्दर्य अभिव्यजंना है। क्रोचे सहजज्ञान को प्रतिच्छवि मानते हैं लेकिन वे साथ ही इस प्रतिच्छवि को उस प्रतिच्छवि से अलग मानते है, जो बाह्य वस्तु को देखने से दर्शक के मन में उत्पन्न होती है। उनके अनुसार यह सहजज्ञान कलाकार के अन्तर में रूप लेता है या अभिव्यंजित होता है, साथ ही जब अन्तर में अभिव्यंजना या रूप लेने की प्रक्रिया खत्म हो जाती है, तब सौन्दर्य की सृष्टि का भी अन्त हो जाता है। इसको जब कलाकार रंग, आवाज़, शब्द या पत्थर की सहायता से रूपायित करना चाहता है तो उसका उद्‌देश्य यह होता है कि वह उस क्षण को, उस प्रतिच्छवि को बाँधकर रखे या उसका विस्तार दूसरों तक रखे। यह भीतर का सहजज्ञान होता है जो सुन्दर होता है, उसका बाह्य रूप ग्रहण नहीं। वस्तुतः क्रोचे सौन्दर्य को सहजज्ञान या अन्तर का धर्म मानते हैं, इसलिये उसकी बाह्य अभिव्यक्ति को सुन्दर मानने में उन्हें संकोच होता है। उनके अनुसार कलाकार के मन के भीतर ही रचना की क्रिया चलती है और उसकी अभिव्यंजना भी उसके अंतर में हो जाती है। वे कहते हैं, एक ऐसा क्षण भी आता है, जब कलाकार भीतर की अभिव्यंजना को बाहर प्रकाशित करना चाहता है। पर इस बाहर प्रकाशित करने की क्रिया का कला से कोई संबंध नहीं।

अभिव्यंजना पर आपत्ति– क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर मनोवैज्ञानिकों ने दो आपत्तियाँ उठायी हैं –

1) क्रोचे के अनुसार सहज्ञान में किसी प्रकार की बौद्विकता या विचारधारा नहीं होती। मनोविज्ञान के विशेषज्ञों का कहना है इस प्रकार के सहजज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती।

2) दूसरी आपत्ति क्रोचे पर यह उठायी जाती है कि क्रोचे का यह कहना है, कि उनका यह मत है कि सहजज्ञान रूपायित होता है, लेकिन सहजज्ञान का यह रूप स्थान, काल व धारणा से अतीत होता है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं, इन्हें छोड़कर कोई रूप कल्पना सम्भव नहीं।

अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति– हिन्दी आलोचना में अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धान्त की तुलना का प्रयास किया गया है, लेकिन यह प्रयास कितना संगत है और कितना असंगत यह जानना ज़रूरी है। अभिव्यंजनावाद का संबंध सभी कलारूपों से है, जबकि कुंतक सिद्धान्त सिर्फ काव्य से संबंधित है। इन दोनो सिद्धान्त में विरोध इस बिन्दु पर भी लक्षित किया जा सकता है कि क्रोचे के विवेचन का केन्द्र है सर्जना – व्यापार, जिसे वे आत्मा के स्तर पर समझाने का प्रयास करते हैं, जबकि कुंतक के विवेचन का केन्द्र है काव्यकृति। क्रोचे की दृष्टि जहाँ आत्मकेन्द्रित है, वहीं कुन्तक की दृष्टि काव्य में केन्द्रित है। कुंतक ने वर्ण, शब्द, काव्य, प्रभाव (रस) आदि को समीक्षा का आधार बताते हैं, जब कि क्रोचे इन सब निर्धारकों को कोई अहमियत नहीं देते। क्रोचे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के लिए अभिव्यंजना एक बुनियादी तत्त्व है, लेकिन कुंतक ने उन्का स्पर्श तक नहीं किया। इस तरह क्रोचे और कुंतक दो सर्वथा विरोधी विचारों पर खड़े हैं, इसलिए दोनो की तुलना संगत नहीं।

प्रश्न 3– मनोविश्लेषणवाद के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– लगभग आधी सदी पहले मनोविश्लेषण को साहित्य के क्षेत्र में सोत्साह ग्रहण किया गया, पर आजकल उसे साहित्य के लिए, विशेषतः आलोचनात्मक साहित्य के लिए एकदम अनुपयुक्त सिद्ध किया जाने लगा है। दोनों मान्यताएँ अतिवादी हैं। यह सही है कि फ्रायड, एडलर व युंग ने साहित्यकार और उसकी रचना के संबंध में बहुत सी स्थानाएँ ऐसी प्रकट की हैं, जो साहित्यिक संदर्भ में अविचारणीय हैं। फिर भी साहित्य की समझदारी में इस सिद्धान्त का अपना योगदान है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। मनोविश्लेषण के आदि प्रवर्तक फ्रायड हैं। एडलर व युंग उनके सहयोगी थे। कालांतर में इन दोनों ने अपने अलग–अलग सिद्धान्त स्थापित किये। तीनों सिद्धान्तों के अलग–अलग नाम हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण या सिद्वान्त को साइकोएनैलिसिस, एडलर के सिद्वान्त को वैयक्तिक मनोविज्ञान (इंडिविजुवल साइकोलॉजी), और युंग के सिद्वान्त को विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान (इनेलिटिकल साइकोलॉजी) कहा गया है। इन्हें, मनोवैज्ञानिकों की वृहद्त्रयी कहते हैं।

अब इन सिद्धान्तों पर एक नज़र डालना ज़रूरी है।

मनोविश्लेषण सिद्धान्त– फ्रायड चार सूत्रों के आधार पर मनोविश्लेषण सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं– दृढ नियतत्ववाद, अचेतन मन, स्पप्न ओर मन की संरचना। कार्य कारण का नियत संबंध नियतत्ववाद है। यानी प्रत्येक मानसिक व्यापार के मूल में कोई–न–कोई कारण होता है और उसे खोजा जा सकता है। दूसरा सूत्र है अचेतन मन। मन की तीन तहें हैं– चेतन, उपचेतन और अचेतन। चेतन मन सामाजिक प्रतिबन्धों का मन है, जिसे सभ्यता, संस्कृति, आचार विचार कहते हैं। अचेतन मन उन आकांक्षाओं का भण्डार है, जो अपनी सम्पूर्ण व्याकुलताओं में दमित रहता है। यौनभावना या काम इसकी सर्वप्रमुख विशेषता है। दमित भावनाएँ ही मनोग्रंथियों का रूप धारण करती हैं। सपने अचेतन मन की ही अभिव्यक्ति हैं। अतृप्त आकांक्षाएँ सपनों में तृप्ति का मार्ग ढूंढ़ती हैं। सपने के अध्ययन से अचेतन मन की जानकारी एक हद तक पायी जा सकती है।

एडलर जीवन की केन्द्रीय प्रेरणा शक्ति अधिकार भावना को मानते हैं। मनुष्य को सामाजिक संरचना, कार्य और प्रेम के क्षेत्र में खुद को समायोजित करना पड़ता है। मनुष्य शिशुरूप में असहाय प्राणी है। उसे अर्जन और रक्षा के लिए दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है। असहायता के कारण उसकी भावना में अनुचित व्यवहार, विषम परिस्थिति और आंगिक हीनता के कारण और भी तीखापन आ जाता है। यानी वह असहायता को बुरी तरह महसूस करने लगता है। असहायता की प्रतिक्रिया तीन रूप में दिखाई पड़ती है – एक प्रकार की क्षति या कमी को दूसरे प्रकार के उत्कर्ष विधायक कार्यों द्वारा पूरा करता है या वह कर्मविमुख हो जाता है या हीनता ग्रन्थि से समझौता कर लेता है। इसे अति क्षतिपूर्ति भी कहते हैं।

फ्रायड की अपेक्षा एडलर के सिद्धान्त की व्यापकता को स्वीकार किया गया है। फ्रायड मनस्ताप को मन की विकृति मानते हैं और एडलर सम्पूर्ण व्यक्तित्व की। फ्रायड के लिए जीवन की मूल प्रेरणा यौन–भावना है और एडलर की अधिकार–भावना। अचेतनमन मन के सिद्धान्त में विशेष अंतर नहीं है। फ्रायड का उदात्तीकरण और एडलर का क्षतिपूर्ति सिद्धान्त एक–सा है।

युंग ने यौन प्रेरणा के स्थान पर जिजीविषा पर अधिक बल दिया है। कामजन्य संघर्ष एकांगी होता है जब कि जिजीविषा जन्म संघर्ष सर्वांगीण और सर्वतोमुखी होता है। बावजूद इसके तीनों मनौवैज्ञानिक अचेतन मन और मानसिक अनियतत्ववाद के समर्थक हैं। फ्रायड और एडलर की कला संबंधी मान्यताएँ लगभग एक जैसी हैं। युंग की मान्यताएँ अलग हैं।

कलाकार मनस्तापी व्यक्ति – फ्रायड और एडलर – दोनों मनोवैज्ञानिक कला को मन की दमित आंकाक्षाओं और हीनता की पूर्ति मानते हैं। वे कलाकार को मनस्तापी या रूग्ण मनते हैं। मनौवैज्ञानिक फ्रायड का मनस्तापी कलाकार यौनभावना से ग्रस्त रहता है एवं उसी की पूर्ति रम्यकल्पनाओं, स्वप्न या कला से करता है। कलात्मक अभिव्यक्ति में उसकी दमित यौन भावनाओं का उदात्तीकरण होता है। एडलर की दृष्टि में कलाकार मुख्यतः अधिकार भावना से युक्त होता है, क्षतिपूर्ति के द्वारा उसका मनस्ताप दूर होता है।

युंग पद्धति – युंग ने कहा है, 'आदिम अनुभूति कलाकार की सर्जनशीलता का स्त्रोत है। चूँकि उसका आकलन संभव नहीं है, इसलिए उसे रूप देने के लिए पौराणिक बिम्ब विधान की आवश्यता होती है। अपने आप में वह कोई शब्द या बिम्ब नहीं प्रस्तुत करती, क्योंकि उसका रूप धूमिल होता है। वह एक प्रकार की गहरी पूर्व सूचना है जो अभिव्यक्ति पाना चाहती है। उसकी स्थिति उस वात्याचक्र के समान है जो पहुँच की सीमा में पड़ने वाली प्रत्येक चीज को पकड़ लेती है, और उसे ऊपर उठाकर दृश्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आकार ग्रहण कर लेती है। उस दृश्य में जो दिखाई पड़ता है वह सामूहिक अचेतन है।' इस उदाहरण के विश्लेषण से तीन निष्कर्ष निकलते हैं –

1) आदिम अनुभूति कलाकार की सर्जनशीलता का स्त्रोत है।

2) वह गत्यात्मक है और कलाकार उसको रूप देने के लिए विवश है।

3) इसके लिए उसे पौराणिक बिम्ब विधान या मिथक की आवश्यकता होती है।

इन तीनों मनोवैज्ञानिकों द्वारा विवेचित–विश्लेषित सिद्धान्तों के आधार पर यह कहना निर्विवाद होगा कि मनोविश्लेषणवाद का गुण एवं सीमा यह है कि वह रचयिता की मनःस्थितियों का लेखा–जोखा प्रस्तुत करती है। स्वयं रचना के संबंध में यह सिद्धान्त मौन रहता है। यह आलोचनात्मक पैमाने में सहायक तो हो सकता है, पर निर्धारक नहीं।

प्रश्न 4– अस्तित्ववाद क्या है ? इस सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाओं का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर– अस्तित्ववाद यूरोप की एक अपेक्षाकृत आधुनिक दार्शनिक एवं साहित्यिक चिन्तन पद्धति है। यह मूलतः दार्शनिक सिद्धान्त है। इस वैचारिक विश्लेषण पद्धति के उद्गम स्त्रोत जर्मन दार्शनिक हसरेल तथा हेडेगर और डेनिश चिन्तक कीर्के गार्ड (1813–55 ई) की विचार पद्धति में उपस्थित हैं। इन विभिन्न चिन्तकों के मतवादों का संघटन वर्तमान युग में फ्रांस में हुआ, जहाँ अस्तित्ववाद को साहित्यिक ख्यति ज्यां पाल सार्त्र (1905) के माध्यम से 1943 ई. के आस पास मिली। अस्तित्ववाद को सम्यक रूप से समझने के लिए निम्नांकित उपशीर्षकों का विश्लेषण आवश्यक है –

मूल सिद्धान्त – ज्यां पाल सार्त्र ने 'एग्जिस्टेंशलिज्म ऐंड ह्यूमनिज्म' में विस्तार से अस्तित्व पर विचार किया है। अस्तित्ववाद का मूल सिद्धान्त यह है कि अस्तित्व सार से पूर्ववर्ती है। अर्थात जहाँ तक मनुष्य का सवाल है, उसका अस्तित्व पहले आता है और उसका सार या व्यक्तित्व बाद में। सभी मनुष्य एक जैसे नहीं होते, उनमें न केवल आकृति, स्वभाव आदि का फर्क होता है। बल्कि बुनियादी विरोध भी होता है। यह सार्वभौम भिन्नता और विरोध इस बात का संकेत करते हैं कि मनुष्य उस अर्थ में पूर्वनिर्धारित नहीं होता, जिस अर्थ में उसके द्वारा निर्मित वस्तुएँ, जैसे कैंची या अन्य कोई सामान। मनुष्य अपने व्यक्तित्व का निर्माण स्वयं करता है। किसी दैवी शक्ति से उसके स्वभावादि का निर्माण नहीं होता। अस्तित्ववाद इस मुद्दे पर मार्क्सवादी सिद्धान्त का निषेध भी करता है कि परिस्थितियाँ मनुष्य का निर्माण करती हैं। सार्त्र का सिद्धान्त मनुष्य की पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा करता है और उसी को अपना निर्माता मानता है।

पूर्ण स्वतंत्रता – पूर्ण स्वतंत्रता के सिद्धान्त की स्थापना के कारण ही सार्त्र अस्तित्वादी दर्शन को सच्चे अर्थों में मानवतावादी दर्शन की संज्ञा से नवाजते हैं। मनुष्य की पूरी गरिमा, उसके पूरे कृतित्व की स्वीकृति का अर्थ यही है कि उसे समस्त प्रकार की पराधीनता से मुक्त कर दिया जाय। उसे बाह्य एवं कृत्रिम अंकुशों से मुक्त कर दिया जाय। इस अर्थ में वह सम्पूर्ण दृष्टि में विशिष्ट है और यही विशिष्टता इसे सृष्टि के केन्द्र मे प्रतिष्ठित करती है। यह पूर्ण स्वतंत्रता या पूरी स्वाधीनता जिसमें मानव किसी सिद्धान्त, आदर्श या मूल्य के पालन के लिए बाध्य नहीं है, अस्तित्ववादी दर्शन की धुरी है।

चयन का दायित्व – अस्तित्ववादी दर्शन सामाजिक उत्तरदायित्व बोध के बनिस्पत, व्यक्तिवादी उत्तरदायित्व बोध का उल्लेख करता है। प्रतिपल व्यक्ति को इस उत्तरदायित्व को निभाना पड़ता है, जो एक बड़ा कठिन कार्य है। चयन की समस्या इसी दायित्व बोध से संबद्ध है। हर समय व्यक्ति के समक्ष चयन की समस्या रहती है। सार्त्र इस कर्म को व्यक्तिपरक मानते हुए भी उसके सामाजिक संदर्भों की चर्चा करते हैं। वे मानते हैं जब कोई व्यक्ति कोई निर्णय करता है तो वह अपने आपको ही नहीं बल्कि वह मानवता को भी उस निर्णय से बाँध देता है। इस संदर्भ में सार्त्र ने 'एग्जिस्टेंशलिज्म एंड ह्यूमनिज्म' में टिप्पणी की है, 'प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रत्येक बात इस रूप में घटित होती है, मनो सारी मानवता उस पर दृष्टि गड़ाए हुए है और जो वह करता है उनके द्वारा वह भी निर्देशित होती है। हरेक आदमी को अपने आप से कहना चाहिए, क्या सचमुच मैं इस प्रकार का आदमी हूँ, जिसे ऐसी रीति से काम करने का अधिकार है कि मानवता मेरे कर्मों के द्वारा अपना मार्ग निर्देशन करे ? और यदि वह अपने आप से यह नहीं कहता तो वह अपनी पीड़ा को दबा रहा है।' यानी सार्त्र की तर्क पद्धति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा किया गया प्रत्येक निर्णय संगत है। संगति का अधार स्वयं व्यक्ति है।

पीड़ा और एकाकीपन – सार्त्र के अनुसार एकाकीपन मनुष्य की सबसे बड़ी पीड़ा है। जो व्यक्ति किसी सामाजिक धार्मिक सिद्धान्त में आस्था रखता है, उसके लिए निर्णय आसान हो जाता है। जैसे धार्मिक व्यक्ति के पास एक पूरी आदर्श पद्धति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निर्धारित है, उसके आलोक में वह अपने जीवन का निर्वाह करता है। जिस व्यक्ति के पास बाहरी मूल्यों का आलोक नहीं है, न ही कोई बाहरी निर्देश या सिद्धान्त है और जिसे केवल स्वयं के विवेक पर ही एक मात्र भरोसा है, जिस पर पूरी दुनिया की नजर टिकी हुयी हो उसके लिए फैसला लेना एक जोखिम भरा काम है। यह उसकी पीड़ा का कारण है। यह पीड़ा प्रतिपल निर्णय करने की पीड़ा है। स्पष्टतः इन स्थापनाओं के कारण अस्तित्ववादियों की खूब आलोचना भी हुयी। आलोचकों ने यह कहा कि, अस्तित्ववाद समर्थक बुद्विजीवियों के लिए, साहित्यकारों के लिए यह सिद्धान्त वैसा ही व्यक्तिवाद का, उच्छृंखलता का पोषक बना जैसा कि अभिव्यंजनावाद बना था। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से साहित्य में शिल्प–संबंधी मनमानेपन को प्रेरणा मिली एवं सार्त्र के अस्तित्ववाद ने साहित्य में काव्यगत मनमानेपन की प्रेरणा दी।

अस्तित्ववादी दर्शन ईश्वर को नहीं मानता, ईश्वरीय विधान को भी वह स्वीकार नहीं करता, किसी भी समाज या व्यवस्था से उत्पन्न संबंध के नियन्त्रण को नहीं मानता। इस दर्शन के अनुसार व्यक्ति एकाकी है, बेसहारा है, उसे अपना रास्ता खुद बनाना है। अस्तित्ववादी दर्शन व्यक्ति को पूरी तरह आत्मकेन्द्रित मान कर चलता है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति और व्यक्ति के बीच भी किसी अंतरंग संबंध की स्थिति अस्वीकार्य हो जाती है, न सिर्फ व्यक्ति ईश्वर से या बाह्य व्यवस्था से कट जाता है, वह अपने साथ रहने वाले व्यक्तियों से भी कट जाता है – पूर्ण स्वाधीनता का यही अर्थ है। इसीलिए सार्त्र कहते हैं कि मानव स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है, स्वतंत्रता ही उसका अभिशाप है। इसी बात को अस्तित्ववादी दर्शन एक रूपक के द्वारा व्यक्त करता है कि व्यक्ति की स्थिति द्वीप के समान है जिस प्रकार सभी द्वीप एक सागर में होते हुए भी एक दूसरे से कटे हुए हैं, उसी प्रकार अनेक व्यक्ति एक समाज में रहते हुए भी एक दूसरे से असंबद्ध हैं, और अपने आप में एक इकाई की तरह हैं।

मूल्य की समस्या – अस्तित्ववाद ने सबसे अधिक मूल्य की समस्या पर विचार किया। इस दर्शन ने प्राचीन मूल्यों का विरोध तो किया ही साथ ही मूल्यों के शोध की एक नयी दृष्टि भी दी। यह दृष्टि आत्मकेन्द्रित दृष्टि है। इसके अनुसार प्रत्येक मूल्य व्यक्ति की निजी खोज है, उसकी निजी उपलब्धि है। अगर मनुष्यों के मूल्यों में कहीं समानता दिखायी देती है तो उसका कारण कोई व्यवस्था नहीं है बल्कि एक संयोग है – विविध व्यक्तियों ने निजी रूप से मूल्यों की खोज की है। व्यक्ति को अपने जीवन का स्वयं निमार्ण करना होता है, अपने जीवन को खुद ही बनाना पड़ता है।

अस्तित्ववाद और साहित्य – अस्तित्ववादी रचनाकार काल्पनिक साहित्य सर्जन में विश्वास नहीं करते उनकी दृष्टि में साहित्य जीवन के दैनन्दिन संघर्षों से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। नानव की मुक्ति में उनकी अटूट आस्था है। इस साहित्यिक परंपरा की शुरूआत सार्त्र करते हैं। सार्त्र की सभी रचनाएँ फ्रेंच से अंग्रेजी में अनूदित हो चुकी हैं। कलात्मक दृष्टि से से इन कैमरा, द फ्लाइज, रेसपेक्टबल प्रोस्टीट्यूट, लूसीफर एण्ड द लॉर्ड आदि कृतियाँ उल्लेनीय हैं। अल्बर्ट कामू, काफ्का अन्य उल्लेखनीय अस्तित्वादी दर्शन से प्रभावित रचनाकार हैं। हिन्दी साहित्य में अस्तित्ववाद की चर्चा खूब हुयी है, पर इसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं दिखता। कहीं–कहीं इस दर्शन का आभास ज़रूर है जैसे अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' उपन्यास में।

14.7 लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– स्वच्छंदतावाद क्या है ? इसकी कुछ विशेषताएँ बताइए।

उत्तर– स्वच्छंदतावाद शब्द का प्रयोग सबसे पहले 1792 में जर्मन आलोचक श्लेगर ने किया और उसे आभिजात्यवाद का विरोधी साहित्य माना। सन् 1800 में प्रकाशित 'लिरिकल बैलेड्स' के दूसरे संस्करण की भूमिका में वर्ड्सवर्थ ने स्वच्छंदतावाद की शक्तिशाली रीति से स्थापना की। जर्मनी, फ्रांस एवं इंग्लैण्ड तीनो देशों में आभिजात्यवाद के विरूद्व स्वच्छंदतावादी साहित्यिक चिन्तान का आरंभ हुआ। वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स, बायरन आदि कवियों ने इस धारा में महती योगदान दिया। इस काव्य आन्दोलन को तार्किकता के विरुद्ध भाव का विद्रोह माना गया। भावप्रवणता इसकी एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है। साहित्य में यह विद्रोह, जड़ता, रूढ़ियों तथा अप्रासंगिक लेखन परंपराओं से लेखक की मुक्ति के प्रयास में दिखायी देता है। यह साहित्य की अंतर्वस्तु और रूप दोनों स्तर पर अभिव्यक्त है।

प्रश्न 2– आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद के संबंधों का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर– आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद को एक दूसरे का विरोधी और पूरक दोनों कहा जाता है। दोनों जीवन संबंधी दो दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, मगर यह स्पष्ट है कि उनके विरोधी ही अधिक हैं, क्योंकि अनुकरण और स्वच्छंद कल्पना, सिद्धान्तों का पालन एवं व्यक्तित्व की निर्बाध अभिव्यक्ति, बाह्य का नियंत्रण और आंतरिक सर्जनात्मक अनिवार्यता की स्वीकृति में परस्पर विरोध स्पष्ट है। आभिजात्यवाद जहाँ साहित्य के लिए वस्तुपरक नियमों का अनुशासन आवश्यक मानता है, वहीं स्वच्छंदतावाद आत्मपरकता तथा रचनाकार की स्वतंत्रता के अधिकार का दावा करता है। आभिजात्यवाद बुद्धि, व्यंग्य, तर्क प्रधान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

से संपन्न कला चेतना को महत्त्व देता है,वहीं स्वच्छंदतावाद की केन्द्रीय चेतना भाव है। इसीलिए स्वच्छंदतावाद को 'तार्किकता के विरूद्ध भाव का विद्रोह' कहा गया। जहाँ आभिजात्यवाद उदात्त चरित्र की गाथा को महत्व देता है वहीं स्वच्छंदतावाद साधारण मानव के सामान्य अनुभवों को महत्वपूर्ण मानता है।

प्रश्न 3– अभिव्यंजना क्या है ? क्रोचे की अभिव्यजंना संबंधी अवधारणा स्पष्ट करें।

उत्तर– अभिव्यजंना का अर्थ है – प्रकट करना, रूप देना। क्रोचे अभिव्यंजना का दो रूप मानते हैं – भौतिक अभिव्यजंना एवं कलात्मक अभिव्यंजना। गुस्से से काँपना, करुणा से विगलित होना, लल्जारुण हो जाना भौतिक अभिव्यंजना का रूप है। वे कलात्मक अभिव्यंजना के लिए कल्पना का योग अनिवार्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में कलात्मक अभिव्यंजना ही अभिव्यंजनावाद है।

क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना ही कला है। सहजानुभूति अभिव्यंजना रूप होती है। सहजानुभूति का अर्थ है अभिव्यक्ति, न कम न अधिक। अन्तरजगत् में जब संवेदना मूर्तित हो जाती है, तो वह अभिव्यक्त हो उठती है। उसका शब्द, रंग रेखा में रूपायित होना ज़रूरी नहीं है। इस तरह क्रोचे अभिव्यंजना को आंतरिक क्रिया मानते हैं इस आन्तरिक अभिव्यंजना के बाद रचनाकार का काम समाप्त हो जाता है।

प्रश्न 4– अभिव्यंजना और वक्रोक्ति का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

उत्तर– हिन्दी आलोचना में अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धान्त के तुलनात्मक अध्ययन के खूब प्रयास हुए। पर इसकी तह में जाने पर इस तुलनात्मक अध्ययन की निरर्थकता का पता चलता है। अभिव्यंजनावाद का संबंध सभी कलाओं के साथ है जबकि कुंतक का सिद्धान्त काव्य पर आधारित है। अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद दोनों दो विरोधी सिद्धान्त हैं। क्रोचे के विवेचन का केन्द्र सर्जना व्यापार है, जिसे वे आत्मा के स्तर पर समझाने का प्रयास करते हैं जबकि कुंतक की दृष्टि काव्य में केन्द्रित है। कुंतक वर्ण, शब्द, कथ्य, प्रभाव आदि को समीक्षा का आधार बनाते हैं, जबकि क्रोचे में इन तत्वों का कोई जिक्र नहीं किया है। क्रोचे अभिव्यजंना को एक बुनयादी तत्त्व मानते हैं, लेकिन कुंतक ने उसका स्पर्श तक नहीं किया, इस प्रकार क्रोचे और कुंतक दो सर्वथा विरोधी बिन्दुओं पर खड़े हैं और दोनों की तुलना असंगत है।

प्रश्न 5– फ्रायड ने मानव व्यक्तित्व के शिल्पीकरण की प्रक्रिया में किन तत्वों को महत्वपूर्ण माना है ? विश्लेषण कीजिए।

उत्तर– फ्रायड ने मानव व्यक्तित्व के शिल्पीकरण की प्रक्रिया में तीन तत्वों को स्वीकार किया है – इड (इदम्), ईगो(अहम), सुपर ईगो (अति अहम)।

इड(इदम्) – फ्रायड के अनुसार काम मानव जीवन के बचपन से ही प्रबल शक्ति के रूप मे सक्रिय रहता है। इस आधार पर बचपन में केवल इड या इदम का विकास होता है। इसे एक प्रकार की शक्ति या ऊर्जा कह सकते हैं, जिससे परवर्ती क्रियाओं और विभ्रमों के निराकरण या परितोष का कार्य होता है। इसकी भूमिका तनाव मुक्ति में सहायक होती है, इसलिए इसे 'सुख–सिद्धान्त' की संज्ञा भी देते हैं।

ईगो (अहम्) – सामाजिक और नैतिक दबावों के कारण बचपन के बाद ईगो या अहम का विकास होता है। इसका काम इड को व्यवस्थित रखना है एवं इसके परितोष के लिए मार्ग निर्धारित करना है। चेतना जो एक क्षणिक तत्व है, वह ईगो (अहम्) का भौतिक गुण है। यह सहज वृत्तियों की पूर्ति के लिए साधन जुटाने का काम करता है। इसे वास्तविक तत्त्व भी कहा जाता है।

सुपर ईगो – सुपर ईगो को 'अति अहम' भी कहते हैं। इस पर दो तत्त्व शासन करते हैं। (क) अहं आदर्श और (ख) विवेक या अंतः करण । इस आदर्श का निर्माण सामाजिक पारिवारिक आदर्श, जीवन मूल्य, नैतिक सांस्कृतिक मान्यताएँ आदि से होता है। इसे आदर्शवादी या पूर्णतावादी सिद्धान्त की संज्ञा भी दी जाती है।

प्रश्न 6– फ्रायड के अनुसार मन के तीन स्तर कौन हैं ?

उत्तर– फ्रायड ने मन के तीन स्तरों का उल्लेख किया है –

1) चेतन– वृत्यात्मक ऊर्जा अर्थात् मूल वृति जब प्रबल हो उठती है और उत्तेजित मन भावनाओं को शब्द देने में सफल हो जाता है, तब मन के इस स्तर को चेतन कहते हैं।

2) अचेतन– जब वृत्यात्मक ऊर्जा अहम् या अति अहं के कारण सबल नहीं हो पाती है तथा उत्तेजित मन का संबंध शब्दों से स्थापित नहीं हो पाता है तो इस स्थिति में भावनाएँ दमित होकर मन के उस स्तर पर एकत्रित हो जाती हैं, जिसे अचेतन मन कहते हैं।

3) अर्धचेतन– उल्लिखित दोनों अवस्थाओं के बीच के मन की स्थिति।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 7– लिबिडो क्या है ?

उत्तर– फ्रायड के अनुसार मनुष्य की समस्त गतिविधियों के पीछे, चाहे वह समष्टि रूप में हो या व्यष्टि रूप में 'लिबिडो' या कामवासना की प्रेरणा उपस्थित होती है। यह प्रत्यक्ष भी हो सकता है और अप्रत्यक्ष भी। उनका यह मानना भी है कि 'लिबिडो' या काम वासना जन्म से ही मनुष्य में विद्यमान रहती है। शुरूआती रूप में वह शिशु की त्वचा पर फैल जाती है और इसके परिणामस्वरूप बच्चों में अंगूठा चूसने आदि की क्रियाएँ होती हैं। यह 'स्वरति' या 'आत्मरति' की स्थिति है। फ्रायड के सिद्धान्त में यह माना गया है कि शिशु की कामवृति अपने माता–पिता व भाई बहनों की ओर प्रेरित होती है, लेकिन नैतिक निषेधों के कारण इस वृति का दमन होता रहता है, और मन में कुंठाएँ बन जाती हैं। प्रयोजन या प्रेरणा प्रमुखतः कामेच्छा होती है, जिसे हम मनोविश्लेषण के द्वारा जान सकते हैं।

प्रश्न 8– अस्तित्ववाद क्या है? इस दर्शन में जिन विशेषताओं का विवेचन किया गया है, उनका उल्लेख कीजिए।

उत्तर– अस्तित्व में 'अस्ति' होने के अर्थ का सूचक है। वैसे तो पेड़ – पौधे, पशु– पक्षी आदि सबका अस्तित्व होता है। लेकिन अस्तित्ववादी अर्थ में मनुष्य का अस्तित्व ही स्वीकार्य है। वह 'होने' की सतत् प्रक्रिया से गुजरता रहता है। इस प्रक्रिया से पेड़ पौधे और पशु पक्षी भी गुजरते हैं, लेकिन उनका आत्मविस्तार प्राणिशास्त्रीय प्रक्रिया का अंग है। मनुष्य अपना विस्तार या होने को अपने खुद के निर्णय से करता है। 'वैयक्तिकता' या 'यूनीकनेस' अस्तित्वाद का केन्द्रीय विषय है। अस्तित्ववाद के जनक सार्त्र कहते हैं– 'सत्व या गुण के पहले अस्तित्व होता है'। वे इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं – 'मनुष्य पहले अस्तित्व में आता है, आत्म संघर्ष करता है, दुनिया से टकराता है और उपने को परिभाषित करता है। वह वही होगा जो अपने को बनाएगा। अस्तिवादी दर्शन में अनेक विषयों का विवेचन किया गया है, जैसे स्वतंत्रता, चुनाव,संवेदना, त्रास, मृत्यु, अजनबियत, ऊब (बोरडम), ऊबकाई, भाषा, समाज, इतिहास आदि। लेकिन इन सभी विषयों का केन्द्रवर्ती मुद्दा व्यक्ति ही है। स्वतंत्रता, अजनबियत और संवेदना का चिन्तण इस दर्शन का मुख्य विवेच्य है।

प्रश्न 9– अस्तित्ववादी दर्शन में 'स्वतंत्रता' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर– अस्तित्ववादी दर्शन के अनुसार मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है। स्वतंत्रता होने की बुनियादी शर्त है। लेकिन यह चुनाव निर्णय, क्रिया और दायित्व से बँधा हुआ है। इनके माध्यम से ही मनुष्य अपनी सम्भावनाएँ अन्वेषित करता है। जो उसकी अपनी होती हैं, यूनीक होती हैं। स्वतंत्र होकर ही मनुष्य प्रामाणिक ज़िन्दगी जी सकता है। अस्तित्ववादी रचनाकार कामू विद्रोह को स्वतंत्रता का पर्याय कहते हैं– 'मैं विद्रोह करता हूँ इसलिए अस्तित्ववान हूँ।' वर्दिएव के मतानुसार, मनुष्य की मुक्ति कुछ वस्तुओं से ही मुक्त होने में नहीं है, बल्कि कुछ वस्तुओं के लिए मुक्त होने में है। जो समाज स्वाधीनता के मूल्य को नहीं समझता है, वह अधिनायकवाद का शिकार हो जाता है।

14.8 अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– स्वच्छंदतावाद का जन्म कब हुआ ?

उत्तर– स्वच्छंदतावाद का उन्मेष अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक व उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दशक मे हुआ।

प्रश्न 2– 'रोमैंटिसिज्म' को किस काव्य आन्दोलन की विरोधी प्रवृति माना जाता है ?

उत्तर– रोमैंटिसिज्म या स्वच्छंदतावाद को प्रायः 'क्लासिसिज्म' अथवा आभिजात्यवाद' की विरोधी प्रवृति के रूप में माना जाता है।

प्रश्न 3– कुछ प्रमुख स्वच्छंदतावादी रचनाकारों के नाम लिखिए।

उत्तर– स्वच्छंदतावाद की प्रवृतियों या विशेषताओं की चर्चा मुख्य रूप से वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स, बायरन आदि कवियों को ध्यान में रखकर की गयी।

प्रश्न 4– स्वच्छंदतावाद की दो महत्वपूर्ण विशेषताओ का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– स्वच्छंदतावाद की दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ है – विद्रोह तथा भावप्रवणता।

प्रश्न 5– क्रोचे की उस पुस्तक का नाम बताइये जिसमें पहली बार अभिव्यंजनावाद की चर्चा हुयी।

उत्तर– सन् 1900 में क्रोचे रचित निबंध 'एस्थेटिक एज द साइंस आफ एक्सप्रेशन एंड जनरल लिंग्विस्टिक्स' मे पहली बार अभिव्यजंनावाद का उल्लेख मिलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 6– क्रोचे का पूरा नाम बताइए ।

उत्तर– क्रोचे का पूरा नाम बेनेदितो क्रोचे है।

प्रश्न 7– क्रोचे सहजानुभूमि के लिए किस पद का प्रयोग करते हैं ?

उत्तर– क्रोचे सहजानुभूमि के लिए 'अभिव्यंजना' पद का प्रयोग करते है।

प्रश्न 8– मनोविश्लेषण के जन्मदाता कौन हैं ?

उत्तर– मनोविश्लेषण के जन्मदाता सिग्मण्ड फ्रायड हैं।

प्रश्न 9– फ्रायड प्रेरणाओं और इच्छाओं का मूल किसे मानते है ?

उत्तर– फ्रायड प्रेरणाओं और इच्छाओं के मूल में 'लिबिडो' या 'कामशक्ति' की उपस्थिति मानते हैं।

प्रश्न 10– मनोविशलेषण सिद्धान्त की वृहद्त्रयी का उल्लेख करें।

उत्तर– मनोविशलेषण सिद्धान्त की वृहदत्रयी हैं – फ्रायड, युंग, एलडर।

प्रश्न 11– संस्कृत काव्यशास्त्र के किस सिद्धान्त से अभिव्यंजनावाद की तुलना की जाती है ?

उत्तर– 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' से अभिव्यंजनावाद की तुलना की जाती है।

प्रश्न 12– फ्रायड के उन चार सूत्रों का उल्लेख कीजिए, जिसको आधार बनाकर मनोविश्लेषण सिद्धान्त की व्याख्या की गयी ?

उत्तर– फ्रायड के चार सूत्रों के आधार पर मनोविश्लेषण सिद्वान्त की व्याख्या करते है – दृढ़ नियतत्ववाद, अचेतनमन, स्पप्न और मन की संरचना।

प्रश्न 13– फ्रायड जीवन की मूल प्रेरणा किसे कहते हैं?

उत्तर– फ्रायड जीवन की मूल प्रेरणा यौन भावना को मानते हैं।

प्रश्न 14– एडलर जीवन की मूल प्रेरणा को किससे जोड़ते हैं ?

उत्तर– एडलर अधिकार भावना को जीवन की मूल प्रेरणा मानते हैं।

प्रश्न 15– युंग किस पद्धति के आधार पर मनोविश्लेषण करते है?

उत्तर– युंग की मनोविशलेषण पद्धति को 'आर्केटाइपल पद्धति' कहते हैं।

प्रश्न 16– कौन सा सिद्वान्त मनुष्य की पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा करता है ?

उत्तर– अस्तित्ववाद मनुष्य की पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा करता है।

प्रश्न 17– अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य की सबसे बड़ी पीड़ा क्या है ?

उत्तर– अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य की सबसे बडी पीड़ा एकाकीपन है।

प्रश्न 18– 'स्वच्छंदतावाद' शब्द का प्रयोग सबसे पहले किसने किया ?

उत्तर– 'स्वच्छंदतावाद' शब्द का प्रयोग सबसे पहले 1792 में जर्मन आलोचक श्लेगर ने किया।

प्रश्न 19– वर्ड्सवर्थ की उस रचना का नाम बताइए जिसे स्वच्छंदतावाद का घोषणा पत्र कहते हैं ?

उत्तर– सन् 1800 ई. में प्रकाशित 'लिरिकल बैलेड्स' को स्वच्छंदतावाद का घोषणा पत्र कहते हैं।

प्रश्न 20– फ्रायड ने मन के कितने स्तरों का उल्लेख किया है ?

उत्तर– फ्रायड ने मन के तीन स्तरों का उल्लेख किया है – चेतन, अचेतन, अर्द्धचेतन।

प्रश्न 21– अस्तित्ववादी दर्शन में जिन विषयों का विवेचन हुआ है, उनमें कुछ का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– अस्तित्ववादी दर्शन में अनेक विषयों का विवेचन किया गया है – स्वतंत्रता, चुनाव, संवेदना, मृत्यु, अजनबियत, ऊब आदि।

14.9 सारांश

आपने विस्तारपूर्वक पश्चिमी आलोचना की कतिपय उल्लेखनीय अवधारणाओं का अध्ययन किया। स्वच्छंदतावाद, अभिव्यंजनावाद, मनोविश्लेषण अस्तिवाद–इन अवधारणाओं का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा है, लिहाजा इनकी स्थापनाओं से परिचित होना आवश्यक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अध्याय : 15

आधुनिक समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

विखंडनवाद, उत्तर आधुनिकता

संरचना

15.0 प्रस्तावना

15.1 उद्देश्य

15.2 विखण्डनवाद

15.3 उत्तर आधुनिकता

15.4 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

15.5 लघु उत्तरीय प्रश्न

15.6 अति लघु उत्तरीय प्रश्न

15.7 सारांश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

15.0 प्रस्तावना

पश्चिम की साहित्यिक अवधारणा 'विखंडनवाद' का संबंध जॉक देरिदा से है। इस अवधारणा की प्रतिश्रुति अत्यंत व्यापक सिद्ध हुयी। साहित्य की प्रचलित अवधारणा 'प्रकृति' और 'रूप' की पारम्परिक समझदारी में काफी बदलाव आया। इस साहित्यिक अवधारणा की महत्ता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि इसका असर सिर्फ साहित्य–समीक्षा पर ही नहीं हुआ, इसने भाषा और दर्शन की प्रश्नोत्तरी को भी बदल डाला।

पश्चिम के प्रतिष्ठित साहित्यिक मूल्य 'उत्तर संरचनावाद' द्वारा निर्णायक हस्तक्षेप सातवें दशक के मध्य में जॉक देरिदा के 'स्पीच एण्ड फिनोमिना', 'राइटिंग एण्ड डिफरेंश' तथा 'ऑफ ग्रामाटोलॉजी' जैसे अध्ययनों से हुआ। 'संरचनावाद' के विमर्श को गंभीर चुनौती मिली।

15.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से हम–

1. पश्चिम की साहित्यिक अवधारणा विखण्डनवाद के बारे में जान सकेंगे।
2. जाक देरिदा के सिद्धान्त को समझ सकेंगे,
3. उत्तर आधुनिकता की अवधारणा का विश्लेषण कर सकेंगे।

15.2 विखण्डनवाद

इस अध्याय में आप आधुनिक पश्चिमी आलोचना के दो महत्त्वपूर्ण विमर्शों विखण्डनवाद और उत्तर आधुनिकता से परिचित होंगे–

जॉक देरिदा लेखन–विधाओं के वर्गीकरण से असहमत हैं। उनका मानना है कि लेखन किसी एक विधा में अँटता नहीं। वे कहते हैं विखंडन की क्रिया याद दिलाती है कि भाषा कैसे दर्शन की योजना को जटिल बनाती है, या बाहर फेंकती है। देरिदा पश्चिमी दर्शन के भीतर से गुजरते हुए यह पाते हैं कि इस दर्शन की एक बुनियादी समस्या है– भाषा की पूर्वकृत, पूर्व उपस्थित 'लोगोसैंट्रिज्म' (यानी एक केन्द्रवादिता, वाक्केन्द्रिता)। वे सुकरात, प्लेटो ओर अरस्तू के ऐसे विचारों का विखंडन करते हैं, जिससे दैवीय भाषा के प्रपंच को उजागर कर सकें। 'वाक् अर्न्तवस्तु है और लिखित भाषा सिर्फ बाह्य रूप' इसी एक केन्द्रिक अवधारणा को देरिदा चुनौती देते हैं। वे मानते हैं भाषा का मूल 'लेखन' मे है। वाक् में नहीं। लेखन, एक साथ आन्तरिक और बाह्य होता है।

ऐसा वे 'आंटोलॉजी' (सत्ता शास्त्र) को निरस्त करने के लिए करते हैं। उनके अनुसार, यह मान्यता सभी चीज़ों को अच्छे या बुरे में देखने की आदी होती है, एक साथ एक जगह अच्छे–बुरे ओर अनन्त रूपों को यह दृष्टि ख़ारिज करती है। असहमत देरिदा एक नयी तर्क विधि अपनाते हैं। वे जिसे 'विखंडित' करते हैं, उसी से 'विखंडन' पैदा करते हैं। आलोचक सुधीश पचौरी का कहना है, 'जिस तर्क का विखंडन करना है, उसी से विखंडन के स्रोत संचित करना– देरिदा यही तकनीक अपनाते हैं, सर्वत्र। यही उनका 'विखंडन' है, और इसी में कहीं उन्हें धनात्मक धरातल भी मिल जाता है।' इस प्रकार देरिदा की असल चिन्ता भाषा के मूल को जानने की है। विखंडन में पाठ–प्रक्रिया अलग होती है, पढ़ने के ढंग में बदलाव आता है। यह विखंडनात्मक पाठ ही देरिदाई विखंडन का स्रोत है। उनके अनुसार 'पाठ' एक कार्रवाई है। **उसमें नतीजे या निष्कर्ष जैसा कुछ नहीं है। यदि कुछ है तो 'भेद' की भाषा है। 'भेद' स्थापना। उनके लिए 'लेखन' एक साथ ही तमाम सांस्कृतिक कर्म का स्रोत है और अपने भीतर निहित ज्ञान को दबाने वाला भी है। 'विखंडन' इस 'लेखन' की कैद में दब रहे 'अर्थ' को मुक्ति देता है। वे कहते हैं, 'पाठ के बाहर कुछ भी नहीं है।'**

15.3 उत्तर आधुनिकता

'उत्तर आधुनिकता' ने पिछले कुछ दशकों से कला के क्षेत्र में सबसे अधिक मूलभूत प्रश्न उठाये हैं। इस सिद्धान्त ने कला के रूपों और प्रक्रिया (मोड़) को चुनौतियाँ दी हैं। इस सिद्धान्त ने सामाजिक सैद्धान्तिकी तथा राजनीति के क्षेत्र में भी गहरा प्रभाव डाला है। सुधीश पचौरी के अनुसार, **'उत्तर आधुनिक विमर्शों ने 'आधुनिकतावाद' के सर्वस्वीकृत प्रस्तावों को प्रश्नांकित किया है, चुनौतियाँ पेश की हैं। उत्तर आधुनिक विमर्श ने एफ. आर. लेविस के द्वारा पेश की गयी पूर्व–औद्योगिक सामुदायिकता का निषेध भी किया है।'** यह दर्शन पूर्व आधुनिक और आधुनिक दोनों तरह की अवधारणाओं को चुनौती देता है, विखंडित करता है। वह इनके द्वारा कमाए गए सत्यों को 'समस्यापूर्ण' बनाता है। 'समस्याहीन'को समस्यापूर्ण बनाना ही उत्तर आधुनिकता का लक्षण है।

उत्तर आधुनिकता के दर्शन को स्थापित करने में जिन कृतियों का ख़ासा योगदान रहा, उन पर एक नज़र डालना ज़रूरी है। पहले–पहल जॉन बार्थ ने 1967 में कला के संदर्भ में इस पद का प्रयोग किया। परन्तु 1974 में पीटर बर्जर के 'थियरी डर अवांगार्द', 1979 में प्रकाशित ल्योतार की 'द पोस्ट मॉडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज' तथा 1984 में प्रकाशित फ्रेडरिक जेमसन की 'पोस्ट मॉडर्निज्म' और 'द कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैपीटलिज्म' ने उस बुनियाद को रख दिया, जिसे साहित्यिक विमर्शों में 'उत्तर आधुनिक शैतानी' से नवाजा जाता है और जिसने कलाओं व समाजशास्त्रों को प्रश्नों से बेध दिया है।

आइए प्रश्नोत्तरों के माध्यम से इसे और विस्तार से समझें।

15.4 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– विखंडन क्या है ? देरिदा के विखंडन सिद्धान्त को समझाइए।

उत्तर – विखंडन एक कार्रवाई है– पढ़ने की कार्रवाई। पढ़ना जो पाठ से बँधा है और जो 'बंद' नहीं है। इस प्रकार विखंडन का उत्स पाठ में है। इस पद्धति में 'पाठ' के 'पाठक' और 'पढ़ने की क्रिया' पर जोर है। इस प्रक्रिया के तहत लेखन 'लेखक' केन्द्र से निकलकर 'पाठक' के बीच आ जाता है। दूसरे शब्दों में पाठक लेखक के नायकत्व के मुकाबले एक प्रतिनायक में रूपान्तरित हो जाता है।

देरिदा के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए आलोचक सुधीश पचौरी 'विखंडन' की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। वे कहते हैं, 'विखंडन कोई सिद्धान्त नहीं है जो किसी शास्त्र का रास्ता दिखाए। यह ज्ञान केक्षेत्र में बनायी श्रृंखला में निहित विरोध को खोल देने का काम करता है। यह हर उस सिद्धान्त की उन कठिनाइयों की ओर इशारा करता है जो पाठ का 'एक मात्र तरीके से' अर्थ करने को अर्थ का 'एकमात्र तरीका' बताते हैं। जो लेखक के हेतु, परम्परा के हेतु और पाठक के हेतु को एक रैखिक बताते हैं। जो छिप या दब जाते हैं, या छूट जाते हैं। इन हेतुओं की साधारणीकरण और सामान्यीकरण की शक्ति जब एक नए समांतर विचार में रोपी जाती है तो वहाँ एक अतिरिक्त अवशेष रह जाता है जो उस एकसूत्रता (एकार्थ) का उल्लंघन करता है, उसे चुनौती देता है, प्रतिरोपण करता है विखंडन की इस प्रक्रिया में हर चीज़ दाँव पर लग जाती है।'

विखंडन सत्य का कोई नया सिद्धान्त नहीं है बल्कि 'पाठ' का सिद्धान्त है। वह उन शून्यों में जाता है जहाँ सत्य हो सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विखंडन की प्रक्रिया : विखंडन लेखन को एक तरह का पूरक कर्म मानता है। पूरक कर्म के कारण ही पार्थक्य या विलोम की सृष्टि होती है। विखंडन परस्पर विलोम तत्त्वों की सार्थकता को स्वीकार करता है। ये तत्त्व इस प्रकार सक्रिय हैं– उपस्थिति–अनुपस्थिति। वाक्–लेख। दर्शन–साहित्य। शाब्दिक–अलंकारगत। केन्द्रीय–उपकेन्द्रीय या हाशिए वाले। इस प्रकार ऐसे या इस तरह के विलोम सदैव मौजूद रहते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि उपस्थित अर्थ के मुकाबले अनुपस्थित अर्थ, वाणी का विलोम लेखन, दर्शन का विलोम साहित्य, शब्दों की जगह अलंकार, केन्द्र के विलोम उपकेन्द्र या इनका विपरीत क्रम सदैव रहता है।

सुधीश पचौरी की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार, पाठ में हमेशा मौजूद 'विलोम' (अपोजीशन) को तोड़ने के लिए, उसे अलग ढंग से देखना पड़ता है। इसका तरीक़ा इस प्रकार हैः– क) पहले देखना है, कि पाठ में मौजूद विलोम तत्त्व संबंधी हैं अथवा विचारधारात्मक हैं। इसके लिए बहुत से पाठों को पढ़ना पड़ता है और विचारधारा को व्यवस्थित करना होता है। यह भी दिखाना होता है कि किस तरह यह विचारधारा पाठ के भीतर खुलती है, (ख) इस काम में विलोम तत्त्वों को याद रखना पड़ता है। इस काम के लिए विलोम तत्त्वों के क्रम को पहले स्पष्ट किया जाता है, फिर उनका क्रम उलटकर एक नया प्रभाव प्राप्त करना होता है। इस प्रकार विखंडन भीतर–बाहर एक साथ चलता हुआ दुहरा काम है।

चूँकि विखंडन बाहर एवं भीतर दोनों के विलोम की जाँच करता है, इसलिए यह स्त्रियों, दलितों, कवियों, देवताओं तथा पागलों के पास भी सत्य का होना मानता है। विखंडन की प्रक्रिया यह मानती है कि औरतें, कवि, देवता, पागल, हाशिए के लोग, सब जिन व्यवस्थाओं में रहते हैं, वे उनमें अपनी हाशियाकृत स्थिति से 'सत्य' प्राप्त कर सकते हैं, जो सर्वानुमति की प्रासंगिकता खारिज़ कर दे और जो अभी तक के 'रूप' (समीक्षा) में दिखायी नहीं दे सकते।

विखंडन दुहराव (पाठ), बिखराव (उलटक्रम) और विद्रूपण (प्रतिरोपण) द्वारा पैदा किया जाता है। यह एकसूत्रीय नियम नहीं देता। उसमें पृथक–पृथक तत्त्व चलते हैं। विखंडन की प्रक्रिया पर विचार करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए, कि यह चूँकि एक रणनीति है, पद्धति या प्रणाली नहीं, इसलिए वह 'नियम रहित' होकर पाठीय–लीला को पहली दृष्टि में काफी आकर्षक ढंग से रखती है। परन्तु इस प्रक्रिया को अपनाना–निभाना मुश्किल ही है। अमेरिका में जहाँ विखंडन का प्रभाव सर्वाधिक नज़र आता है, वहाँ हरेक का विखंडन अलग–अलग है, हार्टमैन का अलग, हिलिस मिलर का अलग, द मान का अलग और एडवर्ड सईद का अलग।

देरिदा का ऐतिहासिक महत्त्व : जॉक देरिदा का समग्र प्रयत्न अब तक के उपलब्ध ज्ञान को वैधता नहीं देता है, उनकी प्रणालियों पर प्रश्न उठाता है। मौजूदा उत्तर–आधुनिक परिदृश्य में वे एक नयी वैचारिक वैधता की तरह आते हैं। वे ल्योतार और बौद्रीआ के द्वारा उठाए गए वैधता एवं अवैधता के बारे में पूरक प्रश्न उठाते हैं। लेकिन वे मात्र उत्तर–आधुनिक या उत्तर–संरचना में सीमित नहीं है। जैसा कि आलोचक रिचार्ड दोर्ती का यह मानना है, 'देरिदा के पाठ के ग़लत ढंग से पढ़े जाने के कारण उन्हें अनेक लोग उत्तर–आधुनिकता का पर्याय समझ लेते हैं, जबकि सच तो यह है कि वे उत्तर–आधुनिकता का भी विखंडन करते हैं। देरिदा के ऐतिहासिक महत्त्व को रेखांकित करते हुए सुधीश पचौरी टिप्पणी करते हैं, 'देरिदा का महत्त्व इस तथ्य में है कि देरिदा ने साहित्यिक सिद्धान्त को एक निर्णायक विमर्श का अवसर दे दिया है। साहित्य–सिद्धान्त अब तक अन्य शास्त्रों के प्रतिबिम्ब या अनुषंग के रूप में पढ़ा जाता था। देरिदा के बाद साहित्य–सिद्धान्त अब अन्य दर्शनों और शास्त्रों के ऊपर अथवा बाहर समझे जाने लगे हैं। देरिदा ने अपने अध्ययन से सिद्ध किया है कि दर्शन और साहित्य में कोई भेद नहीं है। चूँकि हरेक दर्शन अंततः 'रूपक' है, इसलिए हरेक दर्शन साहित्य ही है। इसलिए दर्शन, समाजशास्त्र, साहित्य में कोई 'भेद' नहीं है। सब कुछ को एक 'पाठ' की तरह ही पढ़ा जा सकता है। हर विज्ञान को 'पाठ' की तरह 'पढ़न' और उसकी एक निजी पद्धति विकसित करना एक शास्त्रहीन स्थिति पैदा कर देता है। शास्त्रहीनता विखंडन की मूल विशेषता है।'

चूँकि विखंडन सिद्धान्त हाशिए की दुनिया के उपकेन्द्रों को केन्द्रों के मुकाबले बराबरी का दर्जा देता है, इसलिए इसे पश्चिम विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी सिद्धान्त के रूप में भी स्वीकार किया जाता है।

प्रश्न 2– 'उत्तर आधुनिकता' की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए। विभिन्न उत्तर आधुनिक विचारकों की मान्यताओं का मूल्यांकन प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर– 'उत्तर आधुनिकता' पर विचार कहते हुए सुधीश पचौरी करते हैं, 'उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता का विस्तार भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है और अन्तिम बिन्दु भी है। वह 'अनुपस्थित' की उपस्थिति है। वह प्रतिनिधित्व रहित की उपस्थिति है। वह पश्चिम की आधुनिकता के जरायु हो उठने की पीड़ा है और अपना बोझ न संभाल पाने की विवशता है।

इस भूमंडलीय व्यवस्था में यूरोप के एकमात्र केन्द्र बने रहने की स्थापना का यह सैद्धान्तिक विमर्श विरोध करता है। वह बहुकेन्द्रीय अवस्था के द्वारा 'ज्ञान की अवस्था' के बदल जाने की आत्मस्वीकृति प्रस्तुत करता है। उत्तर आधुनिक विशेषण का पहला प्रयोग अमरीकी उपन्यासकार जॉन बार्थ ने 1967 में 'द लिटरेचर ऑफ ऐक्सॉशन' नामक पहले लेख में सार्थक ढंग से किया एवं बाद में अन्य लेख 'द लिटरेचर ऑफ रिप्लैनिशमेंट' में इसे और विस्तार दिया। पहले लेख में बार्थ ने उद्धरणों, जोड़–गाँठ एवं पैरोडी को रूप की तरह प्रयोग में लाने वाले बोर्खेज और नोबोकोव के उपन्यासों को देखकर लिखा और उसे 'थकान' के साहित्य की संज्ञा दी। दूसरे लेख में उन्होंने मारखेज को उदाहरण के रूप में अपनाया, फिर यह पद तेजी से चल निकला 1974 में पीटर बर्जर के 'थियरी डर अवांगार्द', 1979 में प्रकाशित ल्योतार की 'द पोस्ट मॉडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज' तथा 1984 में प्रकाशित फ्रेडरिक जेमसन की 'पोस्ट–मॉडर्निज्म' और 'द कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैपीटिलिज्म' ने उत्तर आधुनिक विमर्शों को प्रतिष्ठित किया।

उत्तर आधुनिकता के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों की अवधारणाएँ – बहुलतावाद की केन्द्रीय स्वीकृति के कारण उत्तर 'आधुनिकता' को अनेक परिभाषाओं से नवाजा गया। पीटर बर्जर उसे दादावाद तथा सुर्रीयलिज्म में पैदा हुआ मानते हैं, जब जीवन और कला के बीच उपलब्ध आधुनिकतावादी भेद की स्वायत्तता को इन आन्दोलनों ने चुनौती दी। ल्योतार ने 'महावृत्तांतों के प्रति अविश्वसनीयता' की प्रवृत्ति को सामने रखा। आधुनिकता के समग्रतावादी वृत्तांत को ल्योतार ने निरंकुश माना और संदेहवाद को बहुलतावाद में बदला। उत्तर औद्योगिक समाज में चूँकि ज्ञान ही उत्पादक हो गया, इसलिए ल्योतार ने महावृत्तांत (महाविचार, महान नायक, महामुक्ति) आदि को भविष्यहीन कहा। जेमसन ने उत्तर–आधुनिकता को वृद्ध पूंजीवाद के सांस्कृतिक तर्क के रूप में देखा, जिसमें बहुराष्ट्रीय निगमों की तकनीक और उपभोगवादी विचार सक्रिय हैं। इसमें पेरोडी और पेश्टीच भारी रहती है, जहाँ अतीत वर्तमान बनता है, जहाँ शैली के नियम नहीं हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय हैं। एग्नेस हैलर के अनुसार उत्तर आधुनिकतावाद 'अंततः बहुलतावाद' है जो उत्तर औद्योगिक समाज का परिणाम है।हैबर मास इसे एक योजना कहते हैं, 'उपलब्धि' न होने का उल्लेख भी वे करते हैं।

ल्योतार के अनुसार उत्तर–आधुनिकता, आधुनिकता का ही विस्तार है। डेविड बैनेट और जॉन रंडेल उत्तर– आधुनिकता को द्वन्द्वात्मक ढंग से देखते हैं। रंडेल की दृष्टि में उत्तर आधुनिक क्षण एक ही साथ समझौते का क्षण भी है, और संघर्ष का क्षण भी। मिलनर द्वारा संपादित 'पोस्ट मॉडर्न कंडीशन' में जॉन रंडेल कहते हैं, उत्तर आधुनिकता के बीज मार्क्स की रचनाओं में मिलते हैं, क्योंकि मार्क्स सबसे बड़े आधुनिक विचारक हैं। उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता के बीच का वह पड़ाव है, जहाँ आधुनिकता थक गयी है। महत्त्वपूर्ण उत्तर आधुनिक विचारकों की स्थापनाओं का विश्लेषण करते हुए सुधीश पचौरी अत्यंत मूल्यवान टिप्पणी प्रस्तुत करते हैं,

''इस तरह उत्तर–आधुनिकता की प्रवृत्ति, पूंजीवाद की प्रकृति की तरह ही द्वन्द्वात्मक है। डाइलैक्टिकल है। एक तरफ मनुष्य को अनुकूल बनाती हुयी, दूसरी ओर उसे आलोचनात्मक विमर्श में सक्रिय करती हुयी। लेकिन वृद्ध पूँजीवाद जितने जबर्दस्त ढंग से विचारों के पण्यीकरण में व्यस्त है, उसमें प्रकटतः यही दिखता है कि उत्तर आधुनिकतावाद वृद्ध पूंजीवाद में मनुष्य को शामिल करने का दूसरा नाम है। इस तरह उत्तर–आधुनिकतावादी 'दुविधा' कला का एक असंभव क्षण है। वह शून्यवादी है। वह इतिहास विरोधी है। वह वृत्तांत को खत्म करके अराजकता को न्यौता देता है। हैलर कहते हैं कि वह 'बहुलतावाद' से अराजकतावाद पैदा कर सकता है और अधिक व्यापक जनतंत्र तथा जनतांत्रिक कार्रवाई भी पैदा कर सकता है।'

उत्तर आधुनिकता की केन्द्रीय चेतना और कतिपय हिन्दी रचनाएँ : उत्तर आधुनिकता के तीन प्रस्ताव केन्द्रीय हैं :–

1) समग्रतावादी सार्वभौमिक सत्यों का नकार।
2) कांटीय तर्कवाद का नकार। और
3) आधुनिकतावाद की सक्षमता का नकार।

इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह पश्चिम के भीतर से ही पश्चिमी वर्चस्ववाद को चुनौती देता है। दुनिया भर में उत्तर–आधुनिकता की व्यापक स्वीकृति और चलन का कारण उसका 'सांस्कृतिक व्यसन' (कल्चरल रिसीडिविज्म) होना है। सार्वभौमिक अंतर्राष्ट्रीय रूचियों या सार्वभौमिक सत्यों की आधुनिकतावादी अवधारणाओं की अपेक्षा उत्तर आधुनिकता में छोटे समूहों, स्थानीय सांस्कृतिक रूपों, रुचियों के लिए अधिक और सम्माननीय स्थान है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सुधीश पचौरी का मानना है कि भारतीय समाज उत्तर–आधुनिक स्थितियों में दाखिल हो चला है। हमारे अनुभव उत्तर आधुनिक बन रहे हैं। प्रभाष जोशी का गद्य एक उत्तर–आधुनिक गद्य है। वीरेन्द्र जैन का उपन्यास 'डूब' इस मामले में एक महत्त्वपूर्ण संकेत है कि कैसे हमारी आधुनिकता की विकास योजना हमारे अनुभव क्षेत्र में हाशिए पर चली आई है। 'डूब' के बाद इस क्रम में सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए' और मनोहरश्याम जोशी का 'हरिया हरकुलीजकी हैरानी'नए उत्तर आधुनिक प्रमाण कहे जा सकते हैं।

15.5 लघु उत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1– साहित्यिक पाठ और आलोचना के सम्बन्ध में विखंडवादी दृष्टि क्या है ?

उत्तर– हिन्दी में उत्तर आधुनिक विमर्श के एक प्रमुख सिद्धान्तकार सुधीश पचौरी के अनुसार, विखंडनवादी दृष्टि साहित्यिक पाठ और आलोचना में कोई भेद नहीं करती है। चूँकि दोनों रूप अर्थ की बहुलता–जटिलता और आशयों को ढूँढते चलते हैं इसलिए किसी भी एक रूप का दूसरे के मुकाबले विशेष दर्जा नहीं हो सकता। न तो 'रचना' या 'पाठ' बड़ा है और न ही समीक्षा बड़ी है। सभी प्रयत्न बराबर है, क्योंकि सभी लेखन हैं। अब तक आलोचना के क्षेत्र में यह माना जाता रहा है कि रचना या पाठ 'आलोचना' या 'समीक्षा' से ज्यादा महत्त्वपूर्ण और प्राथमिक है। मान्यता यही है कि रचना में प्रामाणिक अनुभव होता है, और आलोचना द्वारा उस अनुभव की ओर इशारा किया जाता है।

विखंडन में पाठ प्रक्रिया परम्परागत पाठ प्रक्रिया से अलग होती है। इसमें पढ़ने का ढंग बदलना होता है। इसके अनुसार साहित्यिक पाठ इसलिए नहीं किए जाने चाहिए कि अंतर्दृष्टि खोजनी है, बल्कि उन अंधताओं को पाना है जो अंतर्दृष्टि की सीमा होती है। इस क्रम में पाठ की 'स्वायत्तता' को क्रम में तोड़ दिया जाता है। विखंडनवादी चिंतक देरिदा 'लेखन' को एक साथ तमाम सांस्कृतिक कर्म का स्रोत मानते हैं, जो अपने भीतर निहित ज्ञान को 'दबाने' वाला भी है। विखंडन इस लेखन की कैद में दब रहे 'अर्थ' को मुक्ति देता है। इसीलिए देरिदा का कहना है, 'पाठ के बाहर कुछ नहीं है।' उनके लिए लेखन एक विद्रूपीकृत, बेदखल कर दिए गए, विभ्रमित कर दिए गए 'थीम' की 'ध्वंसात्मक' विशेषता है।

प्रश्न 2– साहित्य–समीक्षा के क्षेत्र में विखंडन–पद्धति का क्या असर हुआ ?

उत्तर– साहित्य–समीक्षा के क्षेत्र में विखंडन पद्धति विकसित करने का श्रेय जॉक देरिदा और पॉल द मान जैसे उत्तर आधुनिक चिन्तकों को जाता है। इस विखंडन पद्धति का आधुनिक साहित्य पर गहरा असर हुआ। सुधीश पचौरी ने अपनी किताब 'आलोचना से आगे' में लिखा है कि इसने साहित्य की चली आती 'प्रकृति' और 'रूप' की अवधारणाओं को बदल डाला। और सिर्फ साहित्य–समीक्षा पर ही असर नहीं हुआ, देरिदा की पद्धति ने भाषा और दर्शन की प्रश्नोत्तरी को भी बदल दिया।

जिस प्रकार मिशेल फूको के लेखन ने समाज शास्त्र और इतिहास के क्षेत्र में विचार की प्रकृति और इतिहास की अवधारणाओं को बदल डाला। उसी प्रकार मनोविश्लेषण के क्षेत्र में यही काम जॉक लाकाँ ने किया। उन्होंने अपने विश्लेषण से संस्कृति के निर्माण और बोध की प्रक्रिया को समझने के तरीके बदल दिए। समूचा नया 'व्याख्यावाद' खड़ा कर दिया। फ्रांसुआ ल्योतार ने इतिहास के परम आधुनिक क्षणों को नए सिरे से विखंडित किया और उत्तर–आधुनिक क्षणों को खोजा। इसी प्रकार देरिदा की साहित्यिक रणनीति पहली बार साहित्य को अन्य शास्त्रों के मुकाबले एक भरोसे का विमर्श सिद्ध करती है। अंततः साहित्य अधिक स्वतंत्र और स्वकेन्द्रित हो सकता है। इस प्रकार देरिदा के विखंडन में साहित्य की मुक्ति असंभव है। देरिदा का व्यापक लेखन 'लेखन' को ऐतिहासिक भूमिका देने को प्रतिश्रुत है। देरिदा मानते हैं कि लेखन 'वाक्' के भीतर भी है और बाहर टैक्स्ट में भी है। इस तरह से विखंडन 'दमित' लेखन का सक्रिय सहयोगी है बल्कि स्वयं एक संप्रेषित लेखन है।

प्रश्न 3– उत्तर–आधुनिकता पूंजीवाद को किस दृष्टिकोण से देखती है ?

उत्तर– सुधीश पचौरी के अनुसार उत्तर–आधुनिकता पूँजीवादी विकास की एक नई स्थिति है और उत्तर– आधुनिकतावाद उसका सांस्कृतिक प्रत्यय। उत्तर–आधुनिकतावाद का अवदान तो है ही कि वह पूंजीवादी राष्ट्र–राज्य के समग्रीकृत निरंकुश मिजाज को निराशा से, संदेह से देखता है और आधुनिकता को सर्वत्र प्रश्नांकित करते हुए समस्यापूर्ण करता है। उत्तर–आधुनिकतावाद एक सांस्कृतिक प्रत्यय है, जबकि उत्तर–आधुनिकता एक सामाजिक प्रत्यय है। उत्तर आधुनिकता के वरिष्ठ चिन्तक फ्रेडरिक जेमेसन ने लिखा है कि उत्तर–आधुनिकतावाद पूँजीवाद के 'ऐपोथियोसिस' (ऐश्वर्य) से शुरू होता है। वह पूँजीवाद के उस सर्वव्यापकत्व में निहित है, जिसके तहत पूंजीवाद गैर–पण्यीय क्षेत्रों में भी जा पहुँचा है और हर चीज को 'पण्य' बना डाला है।

Jain Vishwa Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'लेट कैपीटलिज्म'के लेखक अर्नेस्ट मैंडेल के अनुसार वृद्ध पूंजीवाद में (ऐश्वर्य) समकालीन जीवन के सभी क्षेत्र सम्मिलित हो जाते हैं। जेमेसन ने इस आगे बढ़ाते हुए कहा कि पूँजीवाद के सर्वव्यापकत्व में भी एक तरह की 'समग्रता' निहित है। उत्तर आधुनिकतावाद यह स्वीकारता है और इस समग्रता से निपटने के लिए वह बहुलतावाद को रणनीति की तरह इस्तेमाल करता है। जॉन मैकगोवान ने लिखा है कि उत्तर–आधुनिकता का लक्ष्य इसी पूँजीवादी समग्रता को विखंडित करना है। इस प्रकार उत्तर आधुनिकतावाद 'वृद्ध पूँजीवाद' के अंतर्विरोधों का आत्म–विस्फोट है। इसके लिए वह समग्रतावाद के तले दबे–कुचले लोगों को सत्ता देता है।

बौद्रीआ के लेखन से हमें जानकारी मिलती है कि उन्नीसवीं सदी के पूँजीवाद ने बीसवीं सदी के इन आख़िरी दिनों में 'सामाजिक प्रतिनिधित्व' को अनुकूलित (मैनुपुलेट) किया है। **'इन द शैडोज ऑफ साइलैंटमैजोरिटिज' तथा 'साइमूलेसंस'** में उन्होंने सिद्ध किया कि यथार्थ की 'नई छलना' ने भाषा और संबंधों को उलझाया है। और 'अदृश्य' किया है। इसे पढ़ने से पता चलता है कि पूँजीवाद के अतिविकसित वृद्ध जर्जर रूप ने अपनी ही शक्ल बदली है। जबकि परम्परागत ढंग से सोचने वाले मार्क्सवादी चिन्तक अभी भी 'उत्पादन के सम्बन्धों का विश्लेषण करने के आदी हैं और अभी भी 'मजदूर वर्ग' द्वारा राज्य सत्ता पर 'कब्जे' की पुराने ढंग की परिकल्पना करते हैं। उत्तर आधुनिकतावादी विकसित पूँजीवाद को एक एकीकृत 'सर्वभक्षी' प्रक्रिया मानता है जिससे कुछ भी नहीं बच सकता।

प्रश्न 4– 'उत्तर आधुनिकता का मुख्य विमर्श क्षेत्र संस्कृति है', कथन पर प्रकाश डालिए।

उत्तर– 'आलोचना से आगे' पुस्तक में सुधीश पचौरी लिखते हैं कि चूँकि उत्तर आधुनिकतावाद सांस्कृतिक क्षेत्र का तर्क है, इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि उसके समूचे विमर्श को संस्कृति को मुख्य क्षेत्र मानें। संस्कृति में ही अब अर्थनीति, राजनीति सब शामिल हैं। उत्तर आधुनिकतावादी लेखक, कलाकार आर्थिक–राजनीतिक संस्थानों की आलोचना प्रमुखतया न करके, पूँजीवाद को सांस्कृतिक क्षेत्र की समीक्षा या विमर्श बनाते हैं। वे वृद्ध पूँजीवाद द्वारा प्रसित और उत्पादित सांस्कृतिक क्षेत्र की समीक्षा करते हैं। इस क्रम में सबसे पहला और बड़ा काम एडोर्नो–होर्खिमार का है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'डायलैक्टिक्स ऑफ एनलाईटेनमेंट' में विस्तार से यह बताया कि ज्ञानोदय ने अंततः जिस सांस्कृतिक उद्योग को जन्म दिया, उसने जीवन के हर क्षेत्र को ग्रस लिया है। विज्ञापनों और 'पॉपुलर कल्चर' की भाषा, पूर्ववर्ती भाषा को 'भ्रष्ट' करती है, उसे 'सार्थक' न रहने देकर ऐसे 'चिह्नों' का संसार बनाती है जिनमें कोई शाश्वततावादी 'गुणवत्ता' नहीं होती। इसे देखकर फ्रेडरिक जेमसन ने उत्तर आधुनिकता को 'सांस्कृतिक तर्क' की तरह रखा तो ठीक ही लेकिन वे तथा अन्य समीक्षक इस सांस्कृतिक जंजाल की कोई मजबूत सर्वाश्लेषी व्याख्या नहीं दे सके।

यह बात सबसे पहले एडोर्नो ने ही लक्षित की कि सांस्कृतिक उद्योग के भीतर हमारी नई सांस्कृतिक पदावली दुर्भेद्य हो जाती है। चीजों से जुड़े हुए 'ब्रांड' ऐसी ही दुर्भेद्य पदावली हैं, जैसे टॉक शो, सीरियल, रूपंकर, नानाविध टी. वी. सीरियल, सिनेमा, विडियो शो, एम. टी. वी. के गीत आदि। ये सब उन चीजों पर रोशनी नहीं डालतीं जिन पर ये चिपकी होतीं, बल्कि वे वस्तु के सत्य और हमारे बीच पर्दे का काम करती हैं। एडोर्नो के अनुसार उपभोक्ता–पूँजीवाद में बिना सोचे–विचारे चीजों का स्वीकार विज्ञापन को स्वयं 'समग्रतावादी' बना देता है। उत्तर आधुनिकतावाद इसी समग्रतावाद से दो–चार होता है जब वह 'व्यंजकों की नई समस्याओं को पहचानता है, इन्हें उठाता है और एक नया सांस्कृतिक वितर्क खड़ा करता है। बौद्रीआ आदि के आख़िरी निष्कर्षों के निराशावाद को छोड़ दे तो हमें उत्तर आधुनिकतावाद के सांस्कृतिक विमर्श में निहित प्रतिरोध बिन्दु पर्याप्त मिलते हैं।

15.6 अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– विखण्डन को पहली बार आधुनिक साहित्य शास्त्र पर लागू करने वाले कौन हैं ?

उत्तर– पॉल द मान (ब्लाइंडनेस एण्ड इनसाइट, 1971)।

प्रश्न 2– साहित्य समीक्षा में विखंडन की पद्धति विकसित करने वाले प्रमुख समीक्षक जॉक देरिदा के अनुसार विखंडन क्या है ?

उत्तर– देरिदा के अनुसार विखंडन की क्रिया याद दिलाती है कि भाषा किस तरह दर्शन की योजना को जटिल बनाती है या बाहर फेंकती है। विखंडन विचार को निरस्त करता चलता है।

प्रश्न 3– विखंडन पर नीत्शे का प्रभाव किस प्रकार देखा जा सकता है ?

उत्तर– सुधीश पचौरी के अनुसार विखंडन पर नीत्शे के प्रभाव को देखने का सूत्र है– 'सत्य को लेकर नीत्शे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का संदेहवाद।'

प्रश्न 4– प्रमुख विखंडनवादी लेखकों के नाम बताइये।

उत्तर– जॉक देरिदा, पॉल द मान, ज्योफ्री हार्टमैन।

प्रश्न 5– देरिदा की प्रमुख कृति का नाम लिखिए।

उत्तर– 'ऑफ ग्रामेंटोलॉजी' देरिदा की महत्त्वपूर्ण कृति है।

प्रश्न 6– पॉल द मान के 'पढ़ने के सिद्धान्त' के आधार क्या हैं ?

उत्तर– रूपक (मैटाफर), अन्योक्ति (मेटानिमी), प्रतीक, विमर्श आदि।

प्रश्न 7– क्या विखंडन उत्तर–संरचना का पर्याय है ?

उत्तर– विखंडन एक स्ट्रेटेजी है जो उत्तर संरचनावाद को भी विखंडित करती है। यह उत्तर संरचना का पर्याय नहीं है।

प्रश्न 8– देरिदा का मार्क्स के सम्बन्ध में क्या सोचना है ?

उत्तर– यह आश्चर्यजनक है कि देरिदा के लेखन में जहाँ 'हीगल' पर लम्बी टिप्पणी मिलती है, वहीं मार्क्स के प्रति एक गहन चुप्पी मिलती है। मार्क्स के सम्बन्ध में उनका केवल एक लेख है 'मार्क्सवाद का प्रेत'।

प्रश्न 9– अल्युसर ने मार्क्सवाद और विखंडनवाद का क्या सम्बन्ध बताया।

उत्तर– मार्क्सवादी चिन्तक लुई अल्युसर का मानना था कि मार्क्सवाद स्वयं एक विखंडनवाद है जो पाठ की प्रक्रिया को विचारधारा प्राप्ति स्थान तक ले जाता है।

प्रश्न 10– विज्ञान–साहित्य के सम्बन्ध को विखंडन किस प्रकार प्रभावित करता है ?

उत्तर– विज्ञान से साहित्य विखंडन के जरिए ही अलग होता है और स्वयं अपना आधार खोजता है क्योंकि विज्ञान को अपने से बाहर प्रमाण की आवश्यकता होती है, साहित्य को नहीं।

प्रश्न 11– हिन्दी में उत्तर आधुनिक साहित्यिक प्रमाण किन रचनाओं को माना जा सकता है ?

उत्तर– वीरेन्द्र जैन का उपन्यास 'डूब', सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए', मनोहर श्याम जोशी के उपन्यास 'कुरु कुरु स्वाहा' और 'हरिया हरकुलीज की हैरानी' आदि में उत्तर आधुनिक दृष्टि उस्थित है।

प्रश्न 12– कला की स्वायत्तता के बारे में उत्तर–आधुनिकतावाद का क्या मानना है ?

उत्तर– आधुनिकतावाद के अनुसार कलाकार की स्वायत्तता एक असंभव स्थिति है। उत्तर–आधुनिक स्थितियाँ इस भ्रम को खोलती हैं कि बुद्धिजीवी पूँजीवाद के बाहर के 'स्वायत्त' क्षेत्र में सक्रिय हो सकता है।

प्रश्न 13– फ्रांसुआ ल्योतार ने आधुनिकता–उत्तर आधुनिकता का क्या सम्बन्ध बताया ?

उत्तर– ल्योतार ने अपनी पुस्तक 'द पोस्ट मॉडर्न कंडीशन' में स्पष्ट किया कि उत्तर आधुनिकता आधुनिकता का विस्तार ही है। और उत्तर–आधुनिकता आधुनिकता का आख़िरी बिन्दु नहीं है, बल्कि उसमें मौजूद एक नया बिन्दु है और यह दशा लगातार है।

15.7 सारांश

पश्चिमी साहित्यिक आलोचना की नवीनतम अवधारणा 'विखंडन' और 'उत्तर आधुनिकता' के आग्रहों से आप विस्तार से परिचित हुए। हिन्दी में इस अवधारणाओं के प्रभाव से इनकार नहीं किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–3 : हिन्दी कवि–आचार्यों का काव्यशास्त्रीय चिन्तन

इकाई : 16

हिन्दी कवि– आचार्यों का काव्यशास्त्रीय चिन्तन

लक्षण काव्य परंपरा एवं कवि शिक्षा– केशव चिंतामणि, भिखारीदास

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संरचना

- 16.0 प्रस्तावना
- 16.1 उद्देश्य
- 16.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
- 16.3 अति लघुत्तरीय प्रश्न
- 16.4 सारांश

16.0 प्रस्तावना

रीतिकाल में रचित वे रचनाएँ, जिनमें मुख्यतः काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को छन्दोबद्ध किया गया है लक्षण काव्य परम्परा के अन्तर्गत् आती है। निश्चित रूप से इनमें मौलिकता का अंश उस तरह से ढूँढ़ना कठिन है, जिस तरह संस्कृत काव्यशास्त्र में उपस्थित है। हिन्दी के लक्षण ग्रन्थ या रीति ग्रन्थ संस्कृत लक्षण ग्रन्थों के अनुवाद हैं या फिर उनकी छाया पर आधारित हैं। फिर भी इन लक्षण ग्रन्थों का अपना महत्त्व है। इन आचार्य कवियों ने दो प्रकार के ग्रन्थों की रचना की – 1) सर्वांग विवेचन की, और 2) विशिष्टांग विवेचन की। सर्वांग विवेचन वाले ग्रन्थों में काव्य लक्षण, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य भेद, काव्य की आत्मा (रस, ध्वनि) काव्य गुण, काव्य दोष, काव्य रीति, अलंकार तथा छन्द का निरूपण किया गया। कतिपय आचार्यों ने काव्यांगों का विवेचन एक ग्रंथ में एवं छंद का पृथक रूप से करने का प्रयत्न किया है। चिन्तामणि का 'कविकुलकल्पतरु' देव का 'शब्दरसायन' दास का 'काव्य निर्णय' ऐसी ही कृतियाँ हैं। विशिष्टांग विवेचन की प्रवृत्ति के अंतर्गत् वे ग्रन्थ रखे जा सकते हैं, जिनमें उक्त काव्यांगों में से किसी एक अथवा दो अथवा तीन को विवेचन का विषय बनाया जाता है। ये विषय रस, अलंकार, छन्द हैं। **रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों के रचनाकार आचार्य कम, कवि शिक्षक अधिक हैं।**

आप इस अध्याय में काव्यशास्त्रीय निबन्ध से परिचित होंगे।

संस्कृत काव्य शास्त्र के सभी आचार्य कवि के लिए बहुश्रुत एवं सुशिक्षित होना आवश्यक मानते हैं। उदाहरण के लिए वामन ने 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में कवि के लिए लोकव्यवहार, शब्दशास्त्र, अभिधान, कोश, छन्दशास्त्र, कला, काम शास्त्र तथा दण्डनीति का ज्ञान तथा काव्य शास्त्र का उपदेश करने वाले गुरुओं की सेवा आवश्यक मानी है। उसी तरह राजशेखर, क्षेमेन्द्र, आदि आचार्यों ने भी कवि शिक्षा पर विचार किया है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास ने कविप्रिया में काव्य शिक्षा के अन्तर्गत काव्य रचना के ढंग, कविता के विषय वर्णन, परिपाटी तथा काव्य समयों का वर्णन किया है। केशव के अतिरिक्त कुछ अन्य आचार्य कवियों ने भी कवि शिक्षा पर विचार किया, जिनमें चिन्तामणि, भिखारीदास आदि उल्लेखनीय हैं। आइए प्रश्नोत्तरों के माध्य से हिन्दी के आचार्यों के काव्यशास्त्रीय चिन्तन से परिचित हुआ जाए।

16.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आप–

–हिन्दी कवि आचार्यों के काव्यशास्त्रीय चिंतन से परिचित हो सकेंगे,
–केशव के काव्यशास्त्रीय चिंतन कोसमझ सकेंगे,
–चिन्तामणि की काव्यशास्त्रीय अवधारणा से परिचित हो सकेंगे, और
–भिखारीदास के काव्यशास्त्र की मान्यता को समझ सकेंगे।

16.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न–1. केशवदास के काव्यशास्त्रीय चिन्तन का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर– केशवदास के तीन लक्षण ग्रन्थ उपलब्ध हैं – रसिकप्रिया, कविप्रिया और छंदमाला। इन ग्रन्थों के आधार पर उनके काव्यशास्त्रीय चिन्तन का मूल्यांकन संभव है। इन गन्थों में भी कविप्रिया सर्वाधिक उल्लेखनीय कृति है, जिसमें कविशिक्षा का प्रभावी वर्णन किया गया है।

कविप्रिया और कवि शिक्षा – कविप्रिया कवि शिक्षा का ग्रन्थ है। केशवदास ने इसकी रचना अपनी साहित्य शिष्या और अपने आश्रयदाता इन्द्रजीत सिंह की प्रधान दरबारी नर्तकी प्रवीणराय के लिए किया। इस ग्रन्थ को कुल 16 प्रभावों में विभक्त किया गया है। आंरभिक दो अध्यायों में वन्दना, नृपवंश और कविवंश का वर्णन किया गया है। अंतिम प्रभाव में चित्र काव्य है। बीच में प्रभावों में काव्य दोषों और अलंकारों का वर्णन किया गया है।

केशवदास ने इस ग्रन्थ में तत्कालीन सभी प्रकार के काव्योपयोगी प्रवाहों का संग्रह किया है। शास्त्र प्रवाह और जन प्रवाह के साथ साथ फारसी साहित्य के प्रवाह का भी नियोजन किया गया है। श्रृंगार के उदाहरणों का अच्छा समन्वय किया गया है। वर्णन की शैली स्पष्ट और उत्तम है। काव्य दूषण की विवेचना बहुत स्पष्ट ढंग से की गयी है। दोषों की कल्पना के लिए संस्कृत शास्त्रों के साथ साथ चारणों के वर्णनों की सहायता भी ली गयी है। दोषों के नाम अन्ध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक रखे गये हैं। अन्य प्रकार के शास्त्रीय दोषों का विवेचन भी किया गया है।

कवियों के तीन भेद बताए गये हैं – उत्तम, मध्यम एवं अधम। भक्ति भाव को उत्तम के अन्तर्गत, मानुषी काव्य को मध्यम एवं दोष युक्त काव्य को अधम विभाजन के अन्तर्गत रखा गया है। कवियों के कविसमय को आधार मानकर तीन रीतियों का उल्लेख किया गया है। राजशेखर वर्णित विविध कवि समय असत् निबन्ध, सत् निबन्ध और नियम निबन्ध को इस प्रकार कहा गया है।

'सांची बात न बरनही, झूठी बरनन बानि।
एकनि बरनन नियम करि, कविमत त्रिविध बखानि।'

अंलकार के संबंध में उनका वर्णन विलक्षण है। वे काव्यालंकारों का विभाजन दो प्रकारो में करते हैं – सामान्य एवं विशिष्ट। फिर सामान्य के चार प्रकार बताये गये हैं :– वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राज्य श्री। वर्णालंकार सात प्रकार के तथा वर्ण्यालंकार अठाईस प्रकार के बताये गये है। भूमिभूषण के बारह प्रकार व राज्य श्री भूषण के सत्रह प्रकार निर्देशित किये गये हैं। विशिष्टालंकार के अंतर्गत चौवालीस अलंकारों का वर्णन है। श्लेष और श्लेष अनुप्राणित अलंकारों का विशेष वर्णन किया गया है। परिसंख्या को श्लेष के अन्तर्गत शामिल किया गया है। 'कविप्रिया' में केशवदास ने रसवादी आचार्यों का अनुसरण न कर दण्डी आदि पुराने अलंकार व चमत्कारवादी आचार्यों का अनुसरण किया है।

ऋतुवर्णन आचार्यों द्वारा प्रवर्तित है, जबकि बारहमासा लोक प्रवर्तित। केशवदास ने कविप्रिया में दोनों प्रकार की परंपराओं का नियोजन कवि शिक्षा हेतु किया है। इसमें ऋणु वर्णन का श्लिष्ट लेखन किया गया है। उल्लिखित काव्यशास्त्रीय विवेचन ने उन्हें रीतिकाल के पहले आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

रसिकप्रिया और रस निरूपण – रसिकप्रिया के छठे व चौदहवें अध्याय में रस विवेचन किया गया है। रस विवेचन के अन्तर्गत भाव का लक्षण, भावों के प्रकार, विभावलक्षण एवं भेद, अनुभाव, सात्विक भाव स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, श्रृंगारेतर रस आदि को सम्मिलित किया गया है। इस कृति के आधारभूत ग्रन्थ के रूप में नाट्यशास्त्र,कामसूत्र और श्रृंगारतिलक का उपयोग किया गया है।

इस कृति में यद्यपि प्रधानता श्रृंगार – रसवर्णन ही है, तथापि इसमें रस, वृत्ति और रस दोष (अनरस) का सामान्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निरूपण है। श्रृंगार को रसराज मानकर इसके अन्तर्गत समस्त रसों का समावेश कर दिया गया है। प्रत्येक प्रकाश में लक्षण के साथ पर्याप्त उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। वस्तुतः इसकी रचना रस के आस्वाद हेतु की गयी है।

इस प्रकार आचार्य केशवदास काव्य शिक्षा और पांडित्य के पहले आचार्य हैं। कविप्रिया और रसिकप्रिया इस उद्देश्य पूर्ति हेतु श्रेष्ठ कृतियाँ हैं।

प्रश्न 2– चिंतामणि के काव्यशास्त्रीय चिन्तन पर विचार कीजिए।

उत्तर– चिंतामणि के काव्यशास्त्रीय प्रतिभा का अनुमान इससे सहज ही लगाया जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा 'हिन्दी रीति ग्रन्थों की अखंड परंपरा चिंतामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीति का प्रारम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।' हालांकि इसके प्रतिवाद भी हुए, प्रतिवाद प्रस्तुत करने वालों में नगेन्द्र का स्थान प्रमुख है। चिन्तामणी रीति काव्य के एक बेहद महत्वपूर्ण आचार्य हैं। उनके आचार्यत्व की प्रतिष्ठा उनके कवि रूप से अधिक है।

आचार्य मम्मट और विश्वनाथ की परंपरा का अनुसरण – चिंतामणि त्रिपाठी की आचार्य के रूप में मान्यता इस दृष्टि से विशेष है कि उन्होंने केशवदास द्वारा अपनाये गये भामह दण्डी की परंपरा की छोड़कर मम्मट और विश्वनाथ की परंपरा को अपनाया एवं उनके बाद रीतिकाल के अन्य अनेक आचार्यों ने भी इसी परंपरा को ग्रहण किया। प्रामाणिक रूप से रचित उनके निम्नांकित ग्रन्थ उपलब्ध हैं – 1) काव्य विवेक 2) कविकुलकल्पतरू 3) काव्यप्रकाश 4) रामायण 5) रसमंजरी। रामायण को छोडकर सभी ग्रन्थ काव्य शास्त्र से संबंद्ध हैं। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उनकी सर्वाधिक उल्लेखनीय कृति है– कविकुलकल्पतरू। 'साहित्यकोश' के अनुसार, 'आचार्यत्व की दृष्टि से चिन्तामणि का स्थान दास और कुलपति के समकक्ष आता है। वस्तु की दृष्टि से उनका निरूपण मम्म्ट और विश्वनाथ के निरूपण से साम्य रखता है। संस्कृत की कारिका वृति–शैली के समानान्तर उन्होंने गद्य का भी कहीं–कहीं प्रयोग किया है। परन्तु अधिकतर लक्षण और उदाहरण दोनो के लिए पद्यात्मक शैली का प्रयोग किया है। उनकी यह शैली जयदेव और अप्पय दीक्षित के अनुरूप है।'

कविकुलकल्पतरू में अभिव्यक्त काव्य चिन्तन – इस ग्रन्थ में कुल 1133 पद्य हैं। पूरा ग्रन्थ आठ प्रकरणों में विभक्त है। पहले प्रकरण में काव्य भेद, काव्य लक्षण, काव्य–पुरूष, रूपक और गुण का विवेचन है। द्वितीय और तृतीय प्रकरण में शब्द एवं अर्थ के भेद के साथ अलंकारों का निरूपण है। चौथे प्रकरण में काव्यगत दोषों पर विचार किया गया है। पाँचवे प्रकरण को तीन भागों में विभक्त किया गया है – पहले भाग में शब्दार्थ निरूपण है, दूसरे भाग में रसध्वनि को छोडकर ध्वनि के शेष भेद उपभेदों का एवं तीसरे भाग में रस ध्वनि का समावेश किया गया है। दूसरे भाग में नायिका भेद का भी वर्णन है, उसी तरह तीसरे भाग में नायक भेद का प्रभावी वर्णन है। इन भेदों की समाप्ति 'राधावर्णनम' व 'कृस्नप्रत्यंगवर्णनम' नाम से की गयी है। यह प्रसंग विश्वनाथ की याद दिलाता है। इसलिए यह कहा जाता है कि चिंतामणि ने नायक–नायिका भेद के प्रसंग का रस निरूपण के अन्तर्गत रखकर विश्वनाथ का अनुसरण किया। पूरे ग्रन्थ में ध्वनि का विस्तार किया गया है। आचार्य चिंतामणि ने गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण नहीं किया है। मम्मट के काव्यप्रकाश और विश्वनाथ के साहित्य दर्पण को चिन्तामणि ने प्रधान उपजीव्य के रूप में स्वीकार किया है। मौलिकता की दृष्टि से चिंतामणि का विशेष महत्व नहीं है।

पद्यात्मक शैली का प्रयोग – आचार्य चिंतामणि ने संस्कृत काव्यशास्त्र की कारिका– वृति–शैली के साक्ष्य पर अवश्य कहीं कहीं गद्य का प्रयोग किया है, पर अधिकतर लक्षण और उदाहरण दोनो के लिए उन्होंने पद्यात्मक शैली का प्रयोग किया है। उनका यह वर्णन जयदेव और अप्पय दीक्षित के अनुरूप है। उन्होंने 'श्रृंगार मंजरी' तक के सूत्रों का अनुवाद भी पद्य में कर दिया है। काव्यशास्त्रीय चिन्तन के इतिहास में वे अपनी गम्भीर व्याख्याओं, सटीक लक्षण व उपयुक्त उदाहरण विवेचन के कारण प्रतिष्ठित हैं।

प्रश्न 3– भिखारीदास के काव्यशास्त्रीय चिन्तन को निरूपित कीजिए।

उत्तर– रीतिकालीन आचार्यों में भिखारीदास सबसे महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक आचार्य हैं। इनकी प्रासंगिकता पर आलोचक बच्चन सिंह टिप्पणी करते हैं, ''इनकी प्रासंगिकता का रहस्य संस्कृत काव्य शास्त्रों की उद्धरणी प्रस्तुत करने में नहीं है बल्कि अपने ग्रन्थों को हिन्दी से सन्दर्भित करने में है। भिखारीदास हिन्दी काव्य शास्त्र के पहले आचार्य हैं। इन्होंने हिन्दी काव्य परंपरा, भाषा, छन्द, तुक आदि पर भी विचार किया है।''

भिखारीदास की रचनाएँ – भिखारीदास ने अपने सात ग्रन्थों का उल्लेख प्रताप–सोम–वंशावली में स्वयं किया है – 'अमरकोश' या 'नाम प्रकाश', 'विष्णु पुराण', 'शतरंज शतिका', 'रस सारांश', 'छंदार्णव पिंगल', 'काव्य निर्णय' और 'श्रृंगार निर्णय'। अमरकोश संस्कृत के अमरकोश का हिन्दी में अनुवाद है। इसे अन्य संज्ञा से भी अभिहित किया गया है– 'अमरप्रकाश' या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'नामप्रकाश'। 'विष्णुपुराण' भी संस्कृत से हिन्दी में किया गया पद्यानुवाद है। शतरंज की चालों का वर्णन शतरंज शतिका में है। 'श्रृंगार निर्णय' नायक–नायिका भेद का ग्रन्थ है। रस सारांश में श्रृंगार के साथ साथ अन्य रसों को भी समायोजित किया गया है। 'काव्य–निर्णय' में शब्दशक्ति, रस, अलंकार, गुण, वृत्ति, दोष आदि के साथ–साथ हिन्दी छन्दों के तुकों का भी विवेचन उपलब्ध है। छन्दों का विस्तृत वर्णन छंदार्णव पिंगल में है।

दास का आचार्यत्व –भिखारीदास के आचार्यत्व पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अनेक आरोप लगाए। सबसे पहला आरोप यह लगाया कि भिखारीदास ने श्रीपति से बहुत कुछ लिया है, दूसरा यह कि इन्हें हिन्दी काव्यक्षेत्र में परकीया प्रेम की प्रचुरता दिखाई पड़ी जो रस की दृष्टि से रसाभास के अन्तर्गत् आता हैं और तीसरा यही कि अनके स्थानों पर लक्षण गलत है और उदाहरण असंगत। यदि ध्यान से देखें तो उल्लीखित आरोपों की सत्यता संदेहों के घेरे में आ जाती है। श्रीपति से बहुत कुछ लेने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता, क्योंकि दोनों का उपजीव्य ग्रन्थ काव्य–प्रकाश है। संस्कृत काव्यशास्त्र में परकीया प्रेम भले ही रसाभास हो पर हिन्दी रीतिग्रन्थ तो परकीया प्रेम से भरा पड़ा है। यह सामंती समाज की सामान्य विशेषता थी। स्वकीया के लक्षण की चर्चा करते हुए दास ने रक्षिताओं को भी शामिल करके स्वकीया के अर्थ का विस्तार ही किया है।

उपादान लक्षणा के लक्षण का दारा ने उल्लेख किया है –

'उपादान सो लक्षना परगुन लीन्हे होई।
कुंत चलत सब जग कहै नर बिनु चलैन सोइ।।'

उपादान लक्षणा में लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ अन्वित रहता है। इसके लिए अजहत्स्वार्था पद का प्रयोग भी करते हैं। अर्थात् जो अपने वाच्यार्थ का परित्याग न करे। 'कुंत चलत' कुंता प्रतिशन्ति का छायानुवाद है। लेकिन इसकी प्रकृति हिन्दी है। हिन्दी में कुंत या भाले प्रवेश करते हैं नहीं लिखा जाएगा, यह हिन्दी की प्रकृति से मेल नहीं खाता कुंत चलत में वाच्यार्थ का बोध होता है। कुंत अपने आप नहीं चलते, आदमी पारस्परिक द्वन्द्वों में कुंतों का प्रहार करते हैं। यहाँ कुंत का अर्थ कुंत धारण करने वाला समझना चाहिए। उसी तरह दास की दृष्टि अपने परिवेश, परंपरा एवं हिंदी साहित्य पर केन्द्रित है। उन्होंने 'काव्य प्रयोजन' की काव्यमय परिभाषा दी है –

'एक लहै तप पुंजनि के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाई।
एक लहै बहु संपति केसव भूषन ज्यों बरबीर बड़ाई।।
एकनि कौ जस ही सों प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाई।
दास कबित्तन की चरचा बुधवतंनि को सुख दे सब ठाई।।'

वे षट्भाषा की भी नयी अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। इस षट्भाषा के केन्द्र में ब्रजभाषा है। वे बोलचाल की ब्रजभाषा के पक्षधर हैं। वे क्लिष्ट संस्कृत और दुरूह फारसी से असहमत हैं।

दास की मौलिकता और हिन्दी का काव्यशास्त्र – भिखारीदास का हिन्दी काव्यशास्त्र के इतिहास में ख़ासा महत्व है। उनकी विलक्षणता इस अर्थ में है कि उन्होंने हिन्दी की मौलिक परंपरा की नींव डालने की कोशिश की। आलोचक बच्चन सिंह की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है, 'दास ने अपने काव्यनिर्णय में कुछ मौलिक प्रश्न भी उठाये हैं। स्त्री का स्त्री के प्रति प्रेम, बालक का बालक के प्रति प्रेम, बंधु–बंधु का प्रेम, पिता–पुत्र प्रेम को उन्होंने प्रेमरस की संज्ञा दी है। इसी प्रकार दया को करुणा में अन्तर्भुक्त कर दिया है। स्पष्ट है कि वे संस्कृत कामशास्त्र से बहुत कुछ लेते हुए भी हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में उसमें कुछ परिवर्तन भी कर रहे थे। यदि दास की परंपरा चली होती तो हिंदी का अपना काव्यशास्त्र बन गया होता।

16.3 अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– केशवदास के लक्षण ग्रन्थों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– केशवदास के तीन लक्षण ग्रन्थ उपलब्ध हैं – रसिकप्रिया, कविप्रिया, और छंदमाला।

प्रश्न 2– केशवदास द्वारा प्रस्तावित कवियों के भेद का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– केशवदास ने कवियों के तीन भेद बताये हैं – भक्तिभाव का 'उत्तम' के अन्तर्गत, मानुषीकाव्य को 'मध्यम' के अंतर्गत व दोषयुक्त काव्य को 'अधम' विभाजन के अन्तर्गत् रखा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 3– रसिकप्रिया में केशव ने किस काव्यशास्त्रीय प्रसंग का विवेचन किया है ?

उत्तर– रसिकप्रिया में केशवदास ने श्रृंगाररस को रसराज मानकर रसों का विवेचन किया है।

प्रश्न 4– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी रीति ग्रन्थों की परंपरा की शुरूआत किस आचार्य से माना ?

उत्तर– आचार्य शुक्ल ने चिंतामणि त्रिपाठी से रीति ग्रन्थों की अंखड परंपरा की शुरूआत माना।

प्रश्न 5– चिंतामणि की काव्यशास्त्रीय रचनाओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– चिंतामणि की काव्यशास्त्रीय रचनाएँ हैं – 1) काव्य विवेक 2) कवि कुलकल्पतरु 3) काव्यप्रकाश और 4) रसमंजरी।

प्रश्न 6– किस रीतिकालीन आचार्य ने सबसे पहले मम्मट और विश्वनाथ की परंपरा का अनुसरण किया ?

उत्तर– चिंतामणि ने सबसे पहले मम्मट और विश्वनाथ की परंपरा का अनुसरण किया ।

प्रश्न 7– भिखारीदास की काव्यशास्त्रीय रचनाओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– भिखारीदास की काव्यशास्त्रीय रचनाएँ हैं – रस सारांश, छंदार्णव पिंगल, काव्य निर्णय और श्रृंगार वर्णन।

प्रश्न 8– सहज ब्रजभाषा को षट्भाषा का केन्द्र किसने ने कहा ?

उत्तर– सहज ब्रजभाषा को षट्भाषा का केन्द्र भिखारीदास ने कहा।

प्रश्न 9– स्वकीया के लक्षणों में रक्षिताओं को किस हिंदी आचार्य ने शामिल किया ?

उत्तर– स्वकीया के लक्षणों में रक्षिताओं को भिखारीदास ने शामिल किया ?

16.4 सारांश

आपने विस्तारपूर्वक हिन्दी की काव्यशास्त्रीय परंपरा को परखा। भिखारीदास, केशवदास, चिंतामणि आदि आचार्यों के काव्य सिद्धान्त संस्कृत आचार्यों से प्रभावित होकर भी मौलिकता के रंग में फला–फूला।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–4 : हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

अध्याय : 17

हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृतियाँ

शास्त्रीय, तुलनात्मक, प्रभाववादी, सौन्दर्यशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संरचना

17.0 प्रस्तावन

17.1 उद्देश्य

17.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

17.3 अति लघुत्तरीय प्रश्न

17.4 सारांश

17.0 प्रस्तावना :

हिन्दी साहित्य कोश भाग 1 के अनुसार,'आलोचना शब्द' लोच् (जिसे पाणिनी ने अपनी पारिभाषिक शब्दावली में लोचृ लिखा है) से बना है। आ + लोच् + अन + आ = आलोचना अथवा आ + लोचृ + ल्युट (अन) = आलोचना। 'लोच्' या लोचृ का अर्थ है – देखना । इसलिए किसी वस्तु या कृति की सम्यक् व्याख्या, उसका मूल्यांकन आदि करना ही आलोचना है – 'आ समतात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम्, स्त्रियां आलोचना'। आलोचक किसी कवि या लेखक की कृति को देखता या परखता है। 'परीक्षा' का अर्थ भी चारों ओर से देखना है (परितः ईक्षा – परीक्षा)। आलोचना कवि या लेखक और पाठक के बीच की श्रृंखला है। राजशेखर ने कविकर्म को प्रकाश में लाना ही भावयित्री प्रतिभा अथवा आलोचक की प्रतिभा कहा है। अंग्रेजी शब्द 'क्रिटीक' का अर्थ भी है 'अलग करना' (टू सेपरेट), जिससे निर्णय की बात का पता चलता है। पाश्चात्य देशों में भी साहित्यगत उत्तमोत्तम बातों को जानना और समाज को उसका ज्ञान कराना, आलोचना का उद्देश्य माना गया है। आलोचनाएँ भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के अनुरूप भिन्न–भिन्न प्रकार की हो सकती हैं, किन्तु मूलतः उनका उद्देश्य एक ही रहता है, अर्थात कवि कर्म का प्रत्येक दृष्टि से मूल्यांकन कर उसे पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना और उनकी रुचि परिष्कृत कर साहित्य की गतिविधि निर्धारित करना। आप इस अध्याय में आलोचना की अवधारणा और उसकी विविध पविधियों से परिचित होंगे।

इस प्रकार आलोचना का कार्य रचनाकार और उसकी कृति का यर्थाथ मूल्य प्रकट करना है। कलात्मक उत्कृष्टता की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति आलोचना का श्रेय कार्य है। आलोचक अपनी आलोचना द्वारा एक प्रकार से लेखक का पुनर्संस्कार करता है। इसलिए श्रेष्ठ आलोचना के बारे में अक्सर यह कहा जाता है, 'आलोचना रचना है'। आलोचना साहित्य की जिस वास्तविक स्थिति पर विचार करती है, उसके ध्येय के संबंध में समय–समय पर भिन्न–भिन्न विचारधाराएँ रही हैं। जहाँ प्राचीन भारत में रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि पर आधारित विचारधाराएँ थीं, वहीं पश्चिम में नैतिकता, सौन्दर्यविज्ञान, यथार्थ अथवा अरस्तू के सुषमावाद या रीतिवाद से संबंधित विचार–धाराएं थीं। आधुनिक हिन्दी आलोचना या तो पूरी तरह संस्कृत या पाश्चात्य या दोनों के समन्वय से एक हद तक अपनी आधार भूमि तैयार करती है। ऐसी आलोचना प्रणाली में शास्त्रीय तुलनात्मक प्रभाववादी, सौन्दर्यशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय आलोचना उल्लेखनीय है। आइए इन प्रणालियों को विस्तार से समझें।

17.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से हम–

– आलोचना की अवधारणा और उसकी विविध प्रविधियों से परिचित हो सकेंगे,

– शास्त्रीय आलेचना को जान सकेंगे,
– तुलनात्मक आलोचना को समझ सकेंगे,
– प्रभाववादी आलोचना को समझ सकेंगे, और
– सौंदर्य शास्त्रीय और समाजशास्त्रीय आलोचना की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

17.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– शास्त्रीय और तुलनात्मक आलोचना क्या है? हिन्दी आलोचना साहित्य के इतिहास में इस धारा की उपस्थिति का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर– शास्त्रीय आलोचना पद्धति में आलोचक लक्षण ग्रन्थों या काव्यशास्त्रीय पुस्तकों में दिये गए शास्त्रीय नियमों के आलोक में कृति की परख या उसका मूल्यांकन करता है। पश्चिमी आलोचना साहित्य में पुनरुत्थान काल में इस आलोचना का नींव पड़ी। इस काल में विभिन्न शास्त्रीय नियम बनाये गए, जिनका अनुसरण अनेक शताब्दियों तक हुआ। पुनरुत्थान काल में मध्ययुगीन काव्य, नाटक, कथा साहित्य आदि की उपेक्षा की गयी और अरस्तू, होरेस क्विन्टीलियन आदि का आश्रय ग्रहण किया गया। यूरोप में इस आलोचना पद्धति का प्रचार या तो मानववाद या प्राचीन श्रेष्ठ साहित्य के अनुसरण की वृति के रूप में हुआ या अरस्तू के प्रसिद्व ग्रन्थ 'पोएटिक्स' के प्रभाव के रूप में या तर्क की प्रधानता के कारण हुआ।

भारतीय संदर्भ में प्राचीन काल में जो साहित्य शास्त्र संबंधी नियम स्थापित हुए, उन्हीं के आलोक में परवर्ती कवियों एवं साहित्यकारों ने काव्य रचना की। श्रव्य काव्य, दृश्य काव्य महाकाव्य, खण्डकाव्य, गद्य, पद्य, चम्पू, नायक–नायिका, नाट्यरचना आदि के संदर्भ में जो नियम निर्धारित हुए, उन्हीं के अनुसार साहित्य समीक्षा होती थी। इस शैली के नियम, साहित्य के आधार पर ही निर्मित होते हैं। यह आलोचना पद्धति **'निर्णयात्मक आलोचना'** के रूप में भी प्रसिद्व है। यह सिद्धान्तों को व्यवहार में लाता है, इस अर्थ में शास्त्रीय आलोचना सैद्धान्तिक आलोचना का विलोम है। रचना को सिद्धान्त की कसौटी पर कसना इसका अभिप्रेत होता है। पूर्ववर्ती युगों में अलंकार, रस, रीति, ध्वनि, अभिव्यंजनावाद या समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर इस तरह की अनेक आलोचनाएँ दिखती है। आधुनिक काल में इस आलोचना का नवोन्मेष महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं मिश्रबन्धु ने किया। इस पद्वति की आलोचना का आदर्श संस्कृत अलंकार शास्त्र के आलोक में कृति की आलोचना करना था। महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'विक्रमांकदेव चरित–चर्चा, नैषधचरित तथा मिश्रबन्धु की 'हम्मीर हठ' काव्य पर एवं भूषण पर श्रीधर की आलोचनाएँ इसी प्रकार की है। हिन्दी नवरत्न जो मिश्रबन्धु रचित है, इस आलोचना पद्धति का श्रेष्ठ उदाहरण है।

भागीरथ मिश्र ने अपनी पुस्तक 'काव्यशास्त्र' में इस आलेचना पद्धति का एक उदाहरण दिया है, जिसे प्रसंगवश यहां उद्धृत किया जा रहा है –

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति।।

उपर्युक्त छन्दविशेष 'दोहा' के नाम से भाषा–काव्य में प्रसिद्व है। यह वर्णन स्वकीया नायिका का है। नायक और नायिका के आलंबन से इसमें शृंगार रस है। सखी की सुनीति से रस की उद्दीप्ति होती है। गुरुजन की लाज से लज्जा संचारी का काम पूरा पड़ता है। प्रियतम की प्रीति से अनुभाव की ओर अंगुलिनिर्देश है। नायिका नागर है, यह बात स्पष्ट ही है। प्रसाद गुण, मधुरा वृत्ति एवं वैदर्भी रीति से दोहा विलसित होता है।

नायिका की सौति, सखी, गुरुजन, प्रियतम आदि अनेक जन अनेक प्रकार से जानते हैं, इस कारण यह उल्लेख अलंकार का प्रथम भेद हुआ।

सखी–सुनीति, प्रीतम–प्रीति में छेकानुप्रास है। नायिका को प्रियजन प्रेमभाव से और अप्रियजन अप्रिय भाव से देखते हैं, अर्थात् वह अपने व्यवहार से अनेक लोगों को अनेक गुणों से प्रभावित करती है, वह नागर नायिका है– यह व्यंग्यार्थ हुआ। अतः व्यंजना शक्ति और यह अर्थ चमत्कारिक होने से ध्वनि (उत्तम) काव्य नहीं होगा।'

तुलनात्मक आलोचना – इस आलोचना पद्धति में रचनाकारों की कृतियों का मूल्यांकन अन्य रचनाओं की तुलना के मद्देनज़र की जाती है। प्रायः इसके अंतर्गत् दो या अधिक रचनाकारों की समान विषयवाली रचनाओं की तुलना की जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आलोचक विषय प्रतिपादन के निमित्त दोनों की रचनाओं का अध्ययन कर उनके विविध अंगों का विश्लेषण करता है। प्रायःइस कोटि की आलोचना में मूल्य निर्धारण की प्रवृति सक्रिय रहती है। इस कोटि में पद्मसिंह शर्मा कृत– 'बिहारी और फारसी कवि सादी की समालोचना' भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद्य, संस्कृत और हिन्दी कविता का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव, 'भिन्न भाषाओं का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव' शीर्षक लेखों को रखा जा सकता है। कृष्ण बिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी' भागवानदीन के 'बिहारी और देव' जैसी पुस्तकें भी इसी कोटि में आती हैं।

अनेक बार इस आलोचना पद्धति का अप्रिय पक्ष भी उभर कर आता है। हिन्दी में देव और बिहारी की श्रेष्ठता से उपजे विवाद को इस संदर्भ में बतौर उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। वस्तुतः यह आलोचना प्रणाली उन स्थलों पर उपयोगी होती है, जहाँ तुलनात्मक दृष्टि से किसी को छोटा या बड़ा साबित नहीं किया जा सकता, बल्कि एक ही प्रकार की विशेषताओं, नियमों और सिद्धान्तों के प्रभाव को स्पष्ट किया जाता है।

प्रश्न 2– प्रभाववादी और सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना क्या है? इन अलोचना पद्धतियों के मानदंडों का उल्लेख करते हुए, कतिपय उदाहरणों की चर्चा करें।

उत्तर– आत्मप्रधान या प्रभावात्मक या प्रभाववादी आलोचना को अंग्रेजी में 'इम्प्रेशनिस्टिक क्रिटिसिज्म' कहते हैं। हालाँकि यह आलोचना का मूल सिद्धान्त है कि किसी रचना का किसी आलोचक के मन पर क्या प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, इसी बात पर आलोचना निर्भर रहती है, लेकिन प्रभावात्मक आलोचना पद्धति स्वच्छन्द व्यक्तिवाद और आत्म–चेतना पर आधारित है। इस प्रणाली का विकास अपेक्षाकृत नया है।

इस आलोचना प्रणाली को आत्मगत या प्रभावाभिव्यंजक आलोचना भी कहते हैं। आलोचक नियमों या सिद्धान्तों की घेराबंदी में नहीं फंसता। वह रचना के आस्वाद के बाद अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव का मौजपूर्ण विश्लेषण करता है। उसकी शैली भावपूर्ण होती है। इस पद्धति में विचार तत्त्व की अपेक्षा कल्पना या भावतत्त्व पर अधिक बल दिया जाता है। आधुनिक काल के भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग में इस शैली की आलोचना विशेष रूप से दिखायी पड़ती है। पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की आलोचना इसी कोटि की है। कभी–कभी इसमें वाक् आडम्बर की चेतना इसके प्रभाव को सीमित कर देती है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं – 'वाह रे अन्धे कवि सूरदास, तुमने क्या कमाल किया है। तुमने वह रूप और भाव सौन्दर्य अपनी बन्द आँखों से देख लिया जो लोग अपनी खुली आँखों से भी नहीं देख पाते। राधा और गोपियों का रंग विलास हृदय में एक गुदगुदी पैदा करता है और नटखटराज कृष्ण, तुम धन्य हो ! तुम्हारी लीला का पार कौन पा सकता है , यह सब सूर का कमाल है। सूर के काव्य के आगे तो अमृत भी फीका लगता है।'

इस प्रकार यह आलोचना तभी ठीक–ठिकाने की हो सकती है जब आलोचक में तीव्र संवेदनशीलता, चित्त की गतिशीलता, भावानुभूति, कल्पना शक्ति आदि गुण हों। इससे साहित्यिक रचनाधर्मिता की नयी कलात्मक चेतना का पता चलता है। पद्मसिंह शर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी और विश्म्भर मानव इस दृष्टि से उल्लेखनीय आलोचक हैं।

सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना – इसे सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी आलोचना से भी अभिहित करते है। अंग्रेजी में इसके लिए एस्थेटिक पद प्रचलित है। ईसा की चौथी शताब्दी के पहले यूनान में इसकी नींव पड़ी, लेकिन 18 वीं शताब्दी में जर्मन तत्ववेत्ता, अलेक्जेण्डर वामगार्टन ने इसका पहली बार साहित्य या कला के संबंध में स्पष्ट नामोल्लेख किया। इस आलोचना पद्धति के अंतर्गत् कल्पना एवं काव्य तथा कलागत अनुभूतिमय सौन्दर्य का विश्लेषण किया जाता है। एक तरह से 'अभिव्यजंनावाद' 'कला कला के लिए' एवं 'प्रभाववाद' इन तीनों का इस आलोचना प्रणाली में संगम हो गया। शास्त्रीय जकड़बन्दी की अपेक्षा पाठक के मन को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का विवेचन, सूक्ष्म अन्तर्निहित सौन्दर्य और सौष्ठव को आँकने का प्रयास करना और काव्य के आभ्यंतर अनुभूति को उद्घाटित करना इस पद्धति की विशेषता है। इस प्रक्रिया के तहत आलोचक रंचनाकार के हृदय के समीप पहुँचता है, क्योंकि किसी रचना में रचनाकार के भाव , मनोवेग विचार एवं कल्पना की अभिव्यक्ति होती है।

हिन्दी के सौष्ठववादी आलोचक अनुभूतियों की व्यंजकता एवं रागात्मकता के साथ–साथ भावों की गूढ़ता पर ६
यान देते हैं और इस प्रक्रिया में वे शैली की प्रांजलता का विशेष ध्यान रखते हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति का समन्वय उन्हें अभीष्ट है। हिन्दी में इस प्रकार की आलोचना छायावादी कवि तथा आलोचकों के बीच खासी लोकप्रिय हुयी। प्रसाद, पन्त, निराला, इलाचन्द्र जोशी एवं नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस आलोचना प्रणाली को विशेष महत्त्व दिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 3— समाजशास्त्रीय आलोचना के स्वरूप का निर्धारण कीजिए। हिन्दी आलोचना से कतिपय उदाहरणों की चर्चा कीजिए।

उत्तर— यह अपेक्षाकृत नयी आलोचना पद्धति है। हिन्दी आलोचना के इतिहास में मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय आलोचना इसका बेहतर उदाहरण है, पर यदि उस हलके को छोड़ दिया जाय तो प्रायः समाजशस्त्रीय आलोचना का परिदृश्य अब बनता हुआ दिखायी पड़ रहा है। नामवर सिंह, मैनेजर पाण्डेय, डॉ. बच्चन सिंह जैसे आलोचक समाजशास्त्रीय आलोचना के मानदण्डों के आलोक में सक्रिय हुए हैं। साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति को हिन्दी में ले आने, उसकी विभिन्न दृष्टियों और आलोचनात्मक उपलब्धियों से हिन्दी के पाठकों को परिचित कराने और उस पर बहस चलाने का काम 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से डॉ. नामवर सिंह ने किया है। इस दृष्टि से डॉ. मैनेजर पाण्डेय की आलोचना पुस्तक 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। निर्मला जैन ने भी इस आलोचना पद्धति पर गम्भीर विमर्श प्रस्तुत किया।

जैसे समाजशास्त्र में सामाजिक संस्थाओं और मनुष्यों की अंतः क्रियाओं का विश्लेषण किया जाता है, वैसे ही समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति में साहित्य को एक सामाजिक संस्था के रूप में अध्ययन का विषय बनाया जाता है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य साहित्यगत संरचनाओं एवं सामाजिक संरचनाओं में समानांतरता ढूंढ़ना है। पश्चिम में मदाम स्तेल ने अपनी कृति 'साहित्य के विषय में' (1800 ई.) के माध्यम से इस दिशा में पहला उल्लेखनीय प्रयास किया। कार्ल मार्क्स ने 1845 में कला और साहित्य के संबंधों को लेकर स्फुट विचार व्यक्त किया। वे मानते हैं कि एक समय का उत्पादन कला के वस्तु रूप के निर्माण में खासी भूमिका अदा करता है। मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने उस विचारधारा का सम्यक विकास किया। समाजशास्त्रीय आलोचना के संदर्भ में तेन की पुस्तक 'अंग्रेजी साहित्य का इतिहास' (1871) विशेष रून से उल्लेखनीय है। प्रजाति, क्षण और परिदृश्य त्रिक के आधार पर उन्होंने समीक्षा के सिद्धान्त को विकसित करने का प्रयास किया। ये तीनों परस्पर संबद्ध हैं। प्रजाति से उनका आशय है :— आनुवंशिकता, देश और जलवायु, परिदृश्य में आर्थिक — सांस्कृतिक तत्व समाहित हैं। जबकि क्षण से सभ्यता की स्थिरता और परिवर्तन का बोध होता है। उन्होंने अपने सिद्धान्त द्वारा समाज और साहित्य के संबंधों के अनेक पक्षों का उद्‌घाटन किया। मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय आलोचकों में लुकाच, लुसिएँ गोल्डमान, रेमंड विलियम्स और एडोर्नो सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना में कहीं कहीं समाजशास्त्रीय आलोचना की झलक दिखती है। इस दृष्टि का व्यवस्थित विकास हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना ने किया। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना में समाज के साहित्य के संबंध का विश्लेषण विभिन्न रूपों में हुआ है। प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' कृति में समाजशास्त्रीय आलोचना के प्रसंग में मार्क्सवादी आलोचना की चर्चा करते हुए मुक्तिबोध की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है, और उन ख़तरों से भी आगाह किया है, जिससे सिद्धान्त के मनमानी उपयोग की प्रवृत्ति सक्रिय होती है। यहाँ प्रसंगवश उन्हें उद्धृत किया जा सकता है, 'अनेक आलोचकों के विवेचन में मार्क्सवाद की समाज और साहित्य संबंधी कुछ सामान्य धारणाओं का मनमानी उपयोग ही अधिक दिखायी देता है। परिणाम यह है कि साहित्य विश्लेषण की सुनिश्चित पद्धति के विकास के बदले रचनाओं और रचनाकारों के बारे में आलोचकों की राय ही पाठकों के हाथ लगती है। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना में जिस व्यक्ति ने एक सुनिश्चित दृष्टि और पद्धति की रूपरेखा सामने रखकर एक महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति का विश्लेषण किया है, वे हैं गजानन माधव मुक्तिबोध। उनकी दृष्टि और पद्धति का सैद्धान्तिक रूप 'कामायनी एक अध्ययन' नाम से 1950 में प्रकाशित हुआ था और दूसरा 'कामायनीः एक पुनर्विचार' शीर्षक से 1961 में ।

इस प्रकार समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति में सामाजिक संरचनाओं एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रसंग में साहित्यिक कृति की भूमिका के बारीक विश्लेषण का प्रयास होता है। लेखक, रचना और पाठक के सभी रूपों और पक्षों को समग्रता में विश्लेषण का प्रयास समाजशास्त्रीय आलोचना की मुख्य प्रवृति है।

17.3 अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1— आलोचना क्या है ?

उत्तर— किसी कृति की सम्यक् व्याख्या या उसका मूल्यांकन करना आलोचना है।

प्रश्न 2— शास्त्रीय आलोचना का एक उहाहरण बताइए।

उत्तर— हिन्दी नवरत्न, रचनाकार —मिश्रबंधु, शास्त्रीय आलोचना का महत्वपूर्ण उदाहरण है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न 3– किस आलोचना में तुलना तत्त्व की प्रधानता होती है ?

उत्तर– तुलनात्मक आलोचना में तुलना तत्त्व की प्रधानता होती है।

प्रश्न 4– आत्मगत आलोचना किसे कहते हैं ? इस पद्धति को और किन संज्ञाओं से अभिहित किया गया है ?

उत्तर– प्रभाववादी आलोचना को ही आत्मगत् आलोचना कहते हैं। इसके लिए आत्मप्रधान, प्रभावात्मक, प्रभाववादी या प्रभावाभिव्यंजक आलोचना संज्ञाओं का भी प्रयोग होता है।

प्रश्न 5– कतिपय प्रभाववादी आलोचकों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– पद्मसिंह शर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी और विश्वम्भर मानव उल्लेखनीय प्रभाववादी आलोचक हैं।

प्रश्न 6– सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना को और किन संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है ?

उत्तर– सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना को सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी आलोचना भी कहते हैं।

प्रश्न 7– कुछ सौष्ठववादी आलोचकों के नाम बताइए।

उत्तर– प्रसाद, पन्त, निराला, इलाचन्द्र जोशी प्रमुख सौष्ठववादी आलोचक हैं।

प्रश्न 8– साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका के लेखक का नाम बताइए।

उत्तर– साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका के लेखक प्रो. मैनेजर पाण्डेय हैं।

प्रश्न 9– मदाम स्तेल ने 1800 में किस कृति की रचना की ?

उत्तर– मदाम स्तेल ने 1800 में 'साहित्य के विषय में' कृति की रचना की।

प्रश्न 10– तेन की आलोचना के प्रस्थान बिन्दु क्या हैं ?

उत्तर– प्रजाति, क्षण और परिदृश्य के परस्पर संबंध का अध्ययन तेन (1871) की आलोचना के प्रस्थान बिन्दु हैं।

17.4 सारांश

आपने हिन्दी आलोचना की मुख्य पविधियों का अध्ययन किया। हिन्दी आलोचना संसार को इन सिद्धान्तों के आलोक में परखना एक दिलचस्प और अनुभवपरक प्रसंग हो सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–5 : व्यावहारिक समीक्षा

अध्याय : 18

व्यावहारिक समीक्षा
कतिपय उदाहरण

संरचना

18.0 प्रस्तावना

18.1 उद्देश्य

18.2 व्यवहारिक समीक्षा के कतिपय उदाहरण

18.3 सारांश

18.0 प्रस्तावना

व्यावहारिक समीक्षा कृति या रचना के मूल्यों का निर्धारण साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर करती है।रचना के अपने मूल्य, रचनाकार की साहित्यिक दृष्टि, कृति या समग्र परंपरा में स्थान, काव्य–भाषा की पहचान आदि का इस पद्धति में विशेष ध्यान रखा जाता है।

1. व्यवहारिक समीक्षा के कतिपय उदाहरण

(1)

'चलन चलन सबको कहत है, ना जानों बैकुंठ कहाँ है
जो जन एक प्रमिति नहीं जानें, बातनि ही बैकुंठ वषानें
जब लगि है बैकुंठ की आसा, तब लग नहीं हरि चरन निवासा
कहें सुनें कैसें पतिआइये, जब लग तहाँ आप नहीं जइये
कहै कबीर यहु कहिये काहि, साध संगति बैंकुठहि आहि।'

प्रस्तुत पद निर्गुण भक्तिधारा के प्रमुख कवि कबीर की 'पदावली' से लिया गया है। कबीर ने अपनी भक्ति और ज्ञान मार्ग के बीच आने वाली सामाजिक एवं धार्मिक बाधाओं पर जमकर प्रहार किया और यही कारण है कि वे समाज के रूप में भी उतने ही प्रसिद्ध हैं, जितने निर्गुण राम भक्त के रूप में।

'मोको कहाँ ढूंढ़े रे बंदे' कबीर की भक्ति की मुख्य विशेषता रही है। ईश्वर किन्हीं तथाकथित पवित्र धार्मिक स्थलों पर नहीं है। वह तो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्थित है। आवश्यकता है, उस मार्ग को खोजने की जिस पर चलकर बैकुंठ पहुँचा जा सकता है। यह मार्ग भक्त को एक सच्चे गुरु के बिना कोई नहीं बता सकता।

उल्लिखित पद में भी कबीर कहते हैं कि सभी भक्तजन प्रभु के धाम बैकुंठ जाने की बात कहते हैं, लेकिन किसी को पता नहीं कि वह स्थित कहाँ है। जो व्यक्ति उस परम् ब्रह्म के बारे में कुछ नहीं जानता, वह व्यर्थ ही बातों के माध्यम से बैकुंठ का गुणगान करता है। व्यक्ति हमेशा बैकुंठ के बारे में सोचता रहता है। उसे हमेशा बैकुंठ जाने की आशा लगी रहती है। पर इस कामना में वह प्रभु को भूल जाता है। उसका मन हरि के चरणों में नहीं लगता है। जब तक भक्त स्वयं प्रभु भक्ति रूपी मार्ग पर नहीं चलेगा तब तक वह बैकुंठ के बारे में कुछ नहीं जान सकता। कबीर आगे उस मार्ग के बारे मे अपना मत प्रकट करते हैं। वे कहते हैं कि वह परम् ब्रहम कहीं बैकुंठ में निवास न कर भक्तजनों के हृदय में, भक्तजनों एवं साधु पुरुषों की संगति में ही निवास करता है। सच्चे साधक के लिए तो वहीं बैकुंठ है।

कबीर के यहाँ प्रभुलोक पहुँचने का मार्ग वेद और शास्त्र से न गुज़रकर भक्त की भक्ति से निकलता है, और यह तभी संभव है जब भक्त अपने अहं का विलयन कर, निस्वार्थ भाव से प्रभु भक्ति में लीन हो जाता है, स्वयं कबीरदास का अपना व्यक्तित्व इसका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

श्रेष्ठ उदाहरण है। द्विवेदी जी के शब्दों में कहें तो,

'ऐसे थे कबीर। सिर से पैर तक मस्त–मौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंड, दिल के साफ़, दिमाग़ के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वंदनीय।'

(2)

'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख,
बलि बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी,
जीविका–विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सौं 'कहाँ जाई, का करी।'
बेद हू पुरान कहीं लोकहू बिलोकियत,
साँकरे सबै है राम रावरे कृपा करी।
दारिद–दसानन दवाई दुनों, दीनबंधु।
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।'

प्रस्तुत पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास रचित 'कवितावली' के 'उत्तरकांड' से ली गई हैं। तुलसीदास भारतीय जनमानस के प्रतिनिधि कवि के रूप में जाने जाते हैं। तुलसीदास ने पहली बार राम के लोक रक्षक मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को प्रतिष्ठित किया।

उत्तरकांड में भक्तिरसपूर्ण, राम की दयालुता का सविस्तार वर्णन है। तुलसी की भक्ति तो आ. शुक्ल के शब्दों में, 'समन्वय की विराट चेष्टा है। भक्तवत्सल तुलसी ने भगवान के मानवता से परिपूर्ण कार्यों को जिस खूबी के साथ वर्णन किया है, उसको सुनकर पत्थर भी अपने अंदर धड़कना महसूस कर सकता है।

प्रस्तुत पद में उस विषम स्थिति का वर्णन है, जब चारों तरफ अकाल की काली छाया छायी हुई है और सभी लोग जीविका विहीन होकर भूखे मर रहे हैं। ऐसे समय में गोस्वामी जी कहते हैं कि प्रभु श्री राम ही सभी की रक्षा कर सकते हैं।

प्रस्तुत पद में तुलसीदास वर्णन करते हैं कि आज चारों तरफ अकाल पड़ा हुआ है। किसानों की फसलें नहीं उपजती। घन धान्य के अभाव में भिखारियों को भीख नहीं मिलती। बनियों का सारा व्यापार खत्म हो गया है। नौकरियाँ चाहने वालों के पास कोई काम नहीं है। सभी प्रकार की आजीविका से विहीन होकर सभी वर्ग दुखी हैं। सभी लोग चिंतामग्न होकर यही बातें कर रहे हैं कि अब कहाँ जाएँ, क्या करें ? इसका जवाब देते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि वेदों पुराणों में कहा गया है और संसार में भी देखा जाता है कि कठिन और संघर्षपूर्ण समय में प्रभु श्रीराम की कृपा और दयालुता ने सबकी रक्षा की है। तुलसीदास आगे प्रभु श्री राम की दयालुता का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जब दरिद्रतारूपी दुष्ट रावण ने संसार को अपने कब्जे में ले लिया और उसके पाप के आँच से तुलसीरूपी विभीषण जब जलने लगा तो उसकी रक्षा भी आप ही ने की। इन पंक्तियों में भक्ति की निर्मलता में अपने समय के यथार्थ का साक्षात्कार मुखर है।

तुलसी की रचनाशैली सीधी सादी है। पर इस सीधेपन में भी अर्थ और भावों की गहराई विलक्षण है, जिसको एक सामान्य पाठक भी अनुभव कर सकता है। आ. शुक्ल ने तुलसीदास पर टिप्पणी करते हुए लिखा है,

'तुलसीदास की वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे घावों और व्यवहारों तक है।......... व्यक्तिगत साधना के साथ ही साथ लोकधर्म की अत्यन्त उज्ज्वल छटा उसमें वर्तमान है।'

(3)

हमको सपनेहू में सोच।
जा दिन ते बिछुरे नंदनंदन ता दिन तें यह पोच
मनो गोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही
कहा करौ बैरिनि भइ निंदिया, निमिष न और रही
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखिकै, आनंदी पिय जानि
सूर पवन भिस निठुर विधाता चपल करयो जल आनि।

प्रस्तुत पद्यांश सूरदास रचित 'भ्रमरगीत सार' से लिया गया है। भ्रमरगीत द्वारा कृष्ण के अलौकिक रूप को लौकिक रूप में वर्णित कर उनके लोकरंजक रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय सूरदास को जाता है। सूर के पहले भी कृष्ण और गोपियों के प्रेम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पर अनेक काव्य लिखे गये, पर सूर का 'भ्रमरगीत' अपनी वाग्वैदग्ध्यता और विरह वेदना के कारण विलक्षण बन पड़ा है।

सूर की गोपियों में प्रेम के संस्कार पक्के हैं। यहाँ विद्यापति की गोपियों के समान रूपलिप्सा न होकर साहचर्य की भावना है। इसमें नंददास की गोपियों की तरह जिरह को कोई स्थान नहीं है। गोपियों का प्रेम जीवन का अंश नहीं, जीवन की परिभाषा है।

कृष्ण वियोग में गोपियाँ उन्ही की याद में खोई रहती हैं। यहाँ तक कि स्वप्न में भी वे उन्हीं के दर्शन करती हैं। प्रियमिलन की उत्कंठा में वे जब उठ बैठती हैं, तो अपने आप को बहुत कोसती हैं। उन्हें नींद में भी प्रिय–मिलन का सुख नहीं मिल पाता।

गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि, हे उद्धव जिस दिन से नंद के नंदन प्रियतम कृष्ण हमसे बिछुड़े हैं, तब से हमारा मन हर वक्त चिंता में डूबा रहता है। यह मन सोते, जागते हर समय उन्हीं को याद करता है। स्वप्न में हम ऐसा अनुभव करती हैं, कि कृष्ण हमारे घर आए हैं और उन्होंने हँसकर हमें बाहों में भर लिया है। प्रियमिलन की इस तीव्र उत्कंठा में हम चौंक पड़ती हैं। फिर प्रिय कृष्ण को पास न देखकर अधिक व्याकुल हो जाती हैं। हम इस बैरिन नींद का क्या करें जो एक पल और न ठहर सकी। जिस प्रकार जल में चकवी अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसे अपना प्रियतम समझकर आनंदमग्न हो जाती है, किन्तु निर्दयी विधाता चंचल पवन के झोकों से जल में हलचल पैदाकर उस प्रतिबिम्ब को मिटा देता है, उसी तरह हमारा मन भी चकवी की तरह उस प्रतिबिम्ब को मिटता देख दु:खी हो जाता है।

सूर ने गोपियों की विरह वेदना की तुलना चकवी से कर प्रेम पीड़ा को और अधिक मार्मिक बना दिया है। गोपियों का प्रेम कोई आकस्मिक घटना नहीं है। वह तो बिरवा के समान धीरे धीरे बढ़ा है। 'लरिकाई को प्रेम अली कहों कैसे करि छूटत'।

शुक्ल जी के शब्दों में, 'इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नही।'

(4)

'ब्रह्म मैं ढूँढयौ पुरानन कानन,
बेद–रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौ सुन्यौ न कहूँ कबहूँ,
वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन।
टेरत–टेरत हारि पर्‌यौ,
रसखानि बतायो न लोग–लुगायन।
देखौ ढुरो वह कुंज–कुटीर में,
बैठो पलोटत राधिका–पायन।'

प्रस्तुत सवैया रसखान द्वारा रचित है। रसखान कृष्ण भक्ति धारा के महत्त्वपूर्ण कवियों में से एक हैं। रसखान का जन्म और लालन–पालन एक मुसलमान के घर में हुआ, पर उनके कृष्ण भक्ति संबंधी दोहों की लोकप्रियता, साम्प्रदायिक सीमाओं को तोड़ते हुए, परम्परा से गहन जुड़ाव की द्योतक है। बादशाह वंश में जन्मे रसखान ने स्वयं को राज्य लिप्सा और भोग–विलास से दूर रख कृष्ण प्रेम और भक्तिमय रस–सागर में निमज्जित किया।

प्रस्तुत सवैये में रसखान ने ईश्वर की सर्वव्यापकता और भक्तवत्सलता का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। प्रभु वेद, पुराण और उनकी ऋचाओं में बंधे नहीं हैं। उन्हें जो भी निश्छल प्रेम से याद करता है, वे उन्हीं के हो जाते हैं। रसखान कहते हैं कि मैंने ब्रह्म को पुराणों में खोजा। वन में तपस्यारत् रहकर भी ईश्वर के साक्षात्कार की चेष्टा की। जब वेदों में कही गयी बातों को सुना, तो ब्रह्म को जानने की इच्छा चौगुनी हो गयी। इतना करने के बाद भी मुझे उस परम् ब्रह्म के स्वरूप, उसके स्वभाव के बारे में कुछ भी पता नहीं चला। क्योंकि अभी तक किसी ने ब्रह्म को देखा ही नहीं है, वे तो सुनी–सुनायी बातों को ही दोहराते आए हैं। मैं उस ब्रह्म के साक्षात् साकार स्वरूप अर्थात् ब्रह्म रूपी कृष्ण को पुकारते–पुकारते थक गया हूँ। मैंने उसे सभी जगह ढूँढ़ लिया है। पर किसी भी स्त्री–पुरूष ने मुझे उनका सही ठिकाना नहीं बताया। अब जबकि रसखान प्रभु कृष्ण को पुकारते–पुकारते, खोजते–खोजते थक गए हैं, तो वे यमुना किनारे कुंजों में बनी हुई कुटिया की ओर विश्राम करने चल दिये हैं। वहाँ भक्त को भगवान कुंज कुटीर में छिपे राधिका के पैरों को दबाते हुए दिखाई पड़ते हैं।

अर्थात् प्रभु कृष्ण तो भाव के भूखे हैं। जो उन्हें सच्चे मन से याद करता है, वे स्वयं उसके पास चले आते हैं और उसकी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कुशलक्षेम पूछते हैं। निर्गुण और सगुण के सारे भेद ईश्वर के प्रति भक्ति और सच्चे प्रेम पर आकर ख़त्म हो जाते हैं। तब कबीर सुनाई पड़ते हैं, 'पाछे–पाछे हरि फिरे कहत कबीर–कबीर।'

(5)

'अति सुधो सनेह को मारग है जहां नेकु सयानपन बांक नहीं'
तहाँ साँचे चलैंतजि आपुनपौ झझकै कपटी जे निसाँक नहीं।
घन आनंद प्यारे सुजान सुनौ इत एक तैं दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन घौं पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटाँक नही।'

प्रस्तुत पद घनानंद के कवित्त से लिया गया है। रीतिमुक्त काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि के रूप में घनानंद को जाना जाता है। घनानंद के काव्यरूप का मूल स्वर विरह या प्रेम की पीर है। आ. शुक्ल के शब्दों में, 'प्रेम की पीर ही को लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।'

प्रस्तुत पद में प्रेममार्ग की सरलता के बारे में बताया गया है, कि यहाँ कपटी व्यक्ति पल भर भी नहीं चल सकते। प्रेममार्ग पर तो वे सच्चे साधक ही चल सकते हैं, जो अपना मोह, अहंकार, शंकाएँ, सभी त्याग देते हैं।

प्रिया, प्रिय को संबोधित करती हुई कह रही है कि हे आनंद के घन सुजान प्रिय स्नेह का मार्ग, प्रेम का मार्ग इतना सीधा है कि उसमें किसी प्रकार के सयानेपन की, वक्रता को कोई जगह नहीं है। उस धीर–गम्भीर मार्ग पर तो वे सच्चे प्रेमी ही चल सकते हैं, जिन्होंने अपनेपन के बोध को, अपने अहंकार को पूरी तरह छोड़ दिया है, जो कपटी हैं वे उस सीधे मार्ग पर चलते हुए झिझकते हैं। इस प्रेममार्ग में केवल एक ही अंक है, दूसरा कोई अंक नहीं है। प्रिया प्रिय को कहती है कि हे लला तुम कौन सी पाटी पढ़े हो कि दूसरे का मन लेकर अपना मन छटांक भी नहीं देते।

पूरे पद में घनानंद का शब्द चयन देखने लायक है। 'लला' से पद की नाटकीयता बढ़ जाती है। यह प्रिय के खिलंदड़ेपन और प्रेमिका के उच्छल अनुराग का सूचक है। मन लेकर छटांक न देने की जो कौशल चतुर प्रिय के पास है, वह प्रेम के क्षेत्र में नहीं होनी चाहिए। अंतिम पंक्ति में श्लेष के प्रयोग से अर्थ की गम्भीरता और बढ़ गई है।

(6)

'बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करे भौंहनि हँसे, देन कहे नट जाय।।
कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननि ही सों बात।।

प्रस्तुत दोहे 'बिहारी' के हैं, जो उनकी प्रसिद्ध कृति 'सतसई' से लिये गये हैं। बिहारी रीतिकालीन रीति सिद्ध कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। श्रृंगार रस के सभी पक्षों एवं अंगों का सूक्ष्म और सविस्तार वर्णन बिहारी के दोहों में उपस्थित है, इसीलिए उनके दोहों को गागर में सागर भरने वाला कहा गया है। श्रृंगार पर तो बहुत से रीतिकालीन कवियों ने लिखा लेकिन हाव–भावों की ऐसी सुन्दर व्यंजना कोई श्रृंगारी कवि नहीं कर सका है।

यह बात इन दोहों से और अधिक स्पष्ट होती है। पहले दोहे में नायिका नायक से बात करने का लुत्फ उठाना चाहती है अतः वह नायक की मुरली छुपा देती है। दूसरे दोहे में नायक और नायिका किसी समारोह में मिलते हैं, तो वहाँ वे कैसे आँखों से बात करते हैं, इसका वर्णन है।

नायक से बात करने का आनंद उठाने के लालच में नायिका ने नायक कृष्ण की मुरली छिपाकर रख ली है। नायक नायिका के पास जाकर अनुनय विनय करता है कि मुझे मेरी मुरली दे दो, पर नायिका नहीं मानती क्योंकि मुरली देने पर नायक उसे ही बजाएगा। तब नायिका को सौगन्ध दिलायी जाती है, कि वो मुरली दे दे। नायिका को नायक से बात भी करनी है और शपथ की लाज भी रखनी है। अतः यह भौहों से हँसने का संकेत भी देती है। नायक जब उससे इस संकेत के कारण मुरली माँगता है तो वह साफ मना कर देती है।

प्रेम के इस खेल में नाटकीयता देखते ही बनती है, नायिका भौंहो से हँसने की कला जानती है। भारतीय साहित्य में पहली बार भौंहों से हँसना बिहारी के यहाँ ही दिखाई पड़ता है। तिरछी आँखों का जादू तो और जगह भी मिल जाएगा, जैसे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सूर कहते हैं –

'अब कैसे हूँ निकसत नाहिं, ऊधो तिरछै है जो अड़े'
पर यहाँ भौहों से हँसने का जादू अप्रतिम है।'

दूसरे दोहे में नायक और नायिका किसी समारोह में एक दूसरे को देख लेते हैं। लोकलाज के भय से वे आँखों ही आँखों से बातें करते हैं। नायक दूर से नायिका को कुछ कहता है। इस प्रेमक्रीड़ा के लिए नायिका मना कर देती है। इस क्रीड़ा पर नायक रीझ जाता है, पर नायिका रूठ जाती है, फिर थोड़ी देर बाद उनकी आँखें एक दूसरे को सम्हालती हैं और आपस में मिलने पर उनके चेहरे खिल उठते हैं। नायिका लजाकर दूर चली जाती है।

बिहारी की श्रृंगार व्यंजना अद्भुत है। प्रत्येक शब्द मानो प्रेमियों की मानसिक और शारीरिक चेष्टाओं को कहने को आतुर हैं। इतने कम शब्दों में भावों की इतनी गहराई ही उन्हें रीतिकाल के अन्य कवियों से अलग करती है।

(7)

वह तोड़ती पत्थर
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर
नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बेठी हुई स्वीकार
श्याम तन, भर बँधा यौवन
नत नयन प्रिय कर्म रत मन
गुरु हथौड़ा हाथ
करती बार–बार प्रहार
सामने तरू मालिका अट्टालिका, प्राकार।

प्रस्तुत पद्यांश आधुनिक हिन्दी कविता के शिखर पुरुष सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की कविता 'तोड़ती पत्थर' से लिया गया है। स्वाधीनता, प्रकृति प्रेम, आत्मसंघर्ष, आत्मसाक्षात्कार तथा मृत्यु निराला की कविता के अनुभव संदर्भ रहे हैं।

'तोड़ती पत्थर' कविता आधुनिक हिन्दी कविता का एक निर्माणक मोड़ है। यहाँ नायिका एक मजदूर औरत है। निराला ने बहुत गहराई से इस कविता में रीतिकालीन सौंदर्यबोध के समानांतर आधुनिक सौंदर्यबोध को स्थापित करने का प्रयास किया है, और यह आधुनिक सौंदर्यबोध है, श्रम का सौंदर्यबोध।

कविता की ये आरम्भिक पंक्तियाँ हैं। पत्थर तोड़ती मजदूर औरत का चित्रण करते हुए निराला कहते हैं कि इलाहबाद के पथ पर पत्थर तोड़ती मजदूर औरत को मैंने देखा। वहाँ प्रचण्ड गर्मी थी और कोई छायादार पेड़ नहीं था। जिसके नीचे बैठकर वह कर्मरत हो सकती। वह साँवले रंग की थी। उसके पास संयमपूर्ण यौवन का सौंदर्य था। उस औरत की आँखे नीचे झुकी हुई थीं और उसका पूरा ध्यान प्रिय कर्म में लगा हुआ था। उसके हाथ में बड़ा हथौड़ा है। उस गुरु हथौड़े से वह पत्थर पर बार–बार प्रहार कर रही थी। सामने विशाल भवन था, जिसमें परकोटा भी था। क्षण भर उसको देखने के बाद वह फिर अपने कर्म में लग जाती है।

देखने की बात यह है कि 'नहीं छायादार पेड़' और 'तरु मलिका अट्टालिका, प्राकार' का आमना सामना होता है। दोनों स्थितियों का विरोध कविता की संरचना को समृद्ध करता है, निश्चय ही निराला की यह कविता, कविता के नये प्रतिमानों का निर्माण करती है।

(8)

श्रेय नहीं कुछ मेरा
मै तो डूब गया था स्वयं शून्य में
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था –
सुना आपने जो वह मेरा नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी –
महाशून्य
वह महामौन
जो शब्दहीन
सब में गाता है।'

प्रस्तुत पद्यांश नयी कविता के प्रमुख कवि अज्ञेय की चर्चित कविता असाध्य वीणा से लिया गया है। आधुनिक हिन्दी कविता का इतिहास अज्ञेय की चर्चा किये बिना पूरा नहीं हो सकता। बहुत कम ऐसे लेखक होते हैं, जो अपने जीवन और लेखन दोनों में एक अत्युच्य नैतिक मानदण्ड का निर्वाह करते हैं। अज्ञेय ऐसे ही विलक्षण सर्जक कवि हैं। अज्ञेय की कविता निरंतर आत्मालोचन और आत्मशोधन की कविता है।

'असाध्य वीणा' चीनी और जापानी लोककथा को आधार बनाकर लिखी गई है। लेकिन यह उस लोककथा का अनुसरण मात्र न होकर भारतीय संदर्भ से गुंफित है। उसमें जो सत्य व्यंजित हुआ है, वह सार्वदेशिक और सार्वभौम है तथा स्वयं कवि की उसके साथ गहनतम संपृक्ति है।

कविता में कलासाधक प्रियंवद के सामने चुनौती है, असाध्य वीणा को साधने की। प्रियंवद उस चुनौती को स्वीकार करता है, पर नितांत नम्र और निःस्पृह आत्मविश्वास के साथ। इस आत्मविश्वास का स्त्रोत प्रियंवद के अहंभाव में नहीं, वह तो अहं के विलयन में है। जो अज्ञेय के जीवन दर्शन और रचना दर्शन का मूल स्वर रहा है।

वीणा को साधने के बाद सभी श्रोता अपनी–अपनी रागात्मक वृति के अनुसार उन स्वरों को महसूस करते हैं। सभी लोग धन्य–धन्य कह उठते हैं। तब प्रियंवद कहता है, कि इस वीणा को साधने में मेरा श्रेय कुछ भी नहीं है, मैं तो स्वयं उस असाध्य की विराट्ता में खो गया था। वीणा के माध्यम से मैंने स्वयं को उस परम् पिता को सौंप दिया था, जो सृष्टि का नियामक है। आप लोगों ने वीणा के माध्यम से जो सुना वह न तो मेरे प्रयास का परिणाम है, न ही वीणा से उत्पन्न स्वरध्वनि। वह सत्य तो उस स्वयंभू ब्रह्म का संगीत है, जो मौन, शब्दहीन होकर सभी व्यक्तियों में अपनी–अपनी संगति के अनुसार अपने–अपने स्वधर्म के अनुसार व्यापता और भासता है।

यह संगीत मनुष्य की सृजन प्रक्रिया का प्रतीक है। मानव की सर्जनात्मक चेष्टा का सबसे बड़ा मानवीय मूल्य यही है, कि वह मनुष्य को उसकी सम्भावनाओं की सही–सही पहचान कराती है। इसी पहचान के आधार पर वह मनुष्य को एक दूसरे से मानवेतर सृष्टि से और अपने स्रष्टा से जोड़ती है।

(७)

'शांति नहीं तब तक, जब तक
सुख भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो।
ऐसी शांति राज्य करती है
तन पर नहीं हृदय पर
नर के ऊँचे विश्वासों पर
श्रद्धा, भक्ति, प्रणय पर।'

प्रस्तुत काव्य पंक्तियाँ राष्ट्रीय चेतना के महत्त्वपूर्ण कवि दिनकर के खण्ड–काव्य 'कुरुक्षेत्र' से ली गई हैं।

रामधारी सिंह दिनकर मूलतः आवेगधर्मी चेतना और राष्ट्रीय संवेदना के वाहक कवि के रूप में हिन्दी साहित्य संसार में जाने जाते हैं। लेकिन दिनकर की राष्ट्रीयता बहुत व्यापक अर्थ में अभिव्यक्त हुई है, जिसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का संदेश निहित है। दिनकर आधुनिक हिन्दी के पहले ऐसे कवि हैं, जिन्होंने युद्ध को अपनी कविता का प्रतिपाद्य बनाया। उसके मूल कारणों तथा पक्ष विपक्ष का विश्लेषण करके अपना मौलिक चिंतन 'कुरुक्षेत्र' में अभिव्यक्त किया, जिसका प्रस्थान बिन्दु मैत्री और साम्य आधारित समाज की स्थापना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कवि इन पंक्तियों में कह रहा है कि जब तक समाज में प्रत्येक व्यक्ति को उसके हिस्से का सुख प्राप्त नहीं होगा नैतिक भावना पर आधारित समाज की स्थापना नहीं होगी तब तक समाज में शांति की स्थापना नहीं हो सकती । दिनकर आगे कहते हैं कि उस समाज में अगर सभी का बराबरी और समानता का अधिकार होगा तो वह एक आदर्श समाज होगा। जहाँ विकास की गंगा शांति के साथ बह सकेगी। जो समाज सामाजिक संघर्षों से मुक्त होता है, वहाँ लोगों के हृदय पर जनतंत्र राज करता है। उन्हें उस शासन–तन्त्र पर पूरा भरोसा होता है। ऐसा समाज प्रेम. मैत्री, भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से एक आदर्श समाज होता है।

दिनकर ने कुरुक्षेत्र में पौराणिक आख्यान के माध्यम से नवीन युगबोध की अपनी मौलिक स्थापना की है।आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहें तो, 'दिनकर के भीतर अव्यक्त और अलक्षित रूप से सामाजिक चेतना का वेग है। 'कुरूक्षेत्र' में उनकी सामाजिक चेतना की बहुमुखी अभिव्यक्ति हुयी है। दिनकर अपने ढंग के अकेले हिन्दी कवि हैं।'

(10)

'पानी में घिरे हुए लोग
प्रार्थना नहीं करते
वे पूरे विश्वारा रो देखते हैं पानी को
और एक दिन
बिना किसी सूचना के
खच्चर, बैल या भैंस की पीठ पर
घर असबाब लादकर
चल देते हैं कहीं और
यह कितनी अद्‌भुत बात है
कि बाढ़ चाहे जितनी भयानक हो
उन्हें पानी में
थोड़ी सी जगह ज़रूर मिल जाती है।'

प्रस्तुत पंक्तियाँ आधुनिक हिन्दी कविता के महत्वपूर्ण कवि केदारनाथ सिंह के काव्य–संग्रह 'यहां से देखो' में 'पानी से घिरे हुए लोग' कविता से ली गई हैं। केदारनाथ सिंह ठेठ ग्रामांचल में पले बढ़े और महानगर तक अपने कार्यक्षेत्र का प्रसार किया। इसीलिए उनके काव्य में ठेठ देहाती सुगंध के साथ महानगरीय जीवन की समस्याओं और आज के विरूप यथार्थ के स्वर सुनाई देते हैं।

'पानी से घिरे हुए लोग' उनकी बहुचर्चित कविता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तरी बिहार की बाढ़ जिस दुखांतक को जीवन पर थोपती है, वह बड़ा त्रासद होता है। लेकिन मनुष्य की जिजीविषा उनसे जूझते हुए श्रम के सौंदर्यशास्त्र को साकार करती है। पानी से घिरे रहने के बावजूद लोग उससे हार नहीं मानते । वो प्रार्थना की अपेक्षा, दारुण यथार्थ की वास्तविकता को अधिक समझते हैं।

कवि कहता है कि बाढ़ के दौरान चारो तरफ पानी से घिरे हुए ग्रामीणजन अपनी इस दुर्दशा के लिए किसी को जिम्मेदार नहीं ठहराते, किसी से शिकायत नहीं करते। बाढ़ जैसी भयानक प्रतिकूलताओं के बीच भीड़ वे दुःखी होकर प्रार्थना करने नहीं बैठ जाते। वे पहले से अधिक क्रियाशील हो जाते हैं। अपने कर्म पर भरोसा करते हैं। जब बाढ़ का पानी बढ़ता है वे बिना कुछ बताए अपना सामान खच्चर बैल या भैंस की पीठ पर लादकर किसी सुरक्षित जगह पर चल देते हैं। कवि कहता है कि यह कितनी आशचर्यजनक बात है कि बाढ़ से घिरे लोग इतनी भयावहता के ब्रावजूद, अपनी बेशकीमती जद्दोजेहद से रास्ता निकाल ही लेते हैं। केदार जी की कविता व्यवस्था के विरूप यथार्थ को उजागर करती हुई, एक बेहतर की उम्मीद को लेकर चलने वाली कविता है। उनकी कविता में उपस्थित लोकजीवन का रिश्ता ग्रामीण संवेदना गहरे छत पर से जुड़ता है।

18.3 सारांश

इस प्रकार कतिपय उदाहरणों से व्यावहारिक समीक्षा क्री मीमांसा होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सहायक–ग्रन्थ सूची

संस्कृत ग्रन्थ

1) काव्यादर्श – दण्डी
2) काव्यानुशासन – हेमचन्द्र
3) काव्य प्रकाश – मम्मट
4) काव्यालंकार – भामह
5) काव्यालंकार सूत्र – वामन
6) काव्य–मीमांसा – राजशेखर
7) ध्वन्यालोक – आनंदवर्धन
8) नाट्यशास्त्र – भरतमुनि
9) वक्रोक्तिजीवितम् – कुन्तक
10) साहित्य–दर्पण – विश्वनाथ

हिन्दी ग्रन्थ

1) आधुनिक हिन्दी आलोचना – डॉ. रामचन्द्र तिवारी
2) आलोचना के सिद्धान्त – शिवदान सिंह चौहान
3) आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द – बच्चन सिंह
4) आलोचक और आलोचना – बच्चन सिंह
5) उत्तर–आधुनिक साहित्यिक विमर्श – सुधीश पचौरी
6) आलोचना से आगे – सुधीश पचौरी
7) काव्यदर्पण – रामदहिन मिश्र
8) काव्य शास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
9) चिन्तामणि – रामचन्द्र शुक्ल
10) नया काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
11) पाश्चात्य काव्यशास्त्र – देवेन्द्र नाथ शर्मा
12) पाश्चात्य काव्यशास्त्र : इतिहास, सिद्धान्त और वाद – डॉ. भगीरथ मिश्र
13) पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त – डॉ. शान्ति स्वरूप गुप्त
14) पाश्चात्य साहित्य–चिन्तन – निर्मला जैन / कुसुम बांठिया
15) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र
16) भारतीय साहित्यशास्त्र – बलदेव उपाध्याय
17) साहित्यालोचन – श्यामसुंदर दास
18) सिद्धान्त और अध्ययन – गुलाब राय
19) हिन्दी का गद्य–साहित्य – रामचन्द्र तिवारी
20) हिन्दी गद्य–मीमांसा – अम्बिका दत्त व्यास
21) हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम् – डॉ. नगेन्द्र
22) हिन्दी साहित्यकोश– भाग–1 – सं. धीरेन्द्र वर्मा
23) हिन्दी साहित्यकोश– भाग–2 – सं. धीरेन्द्र वर्मा

अंग्रेजी ग्रन्थ

1) Aesthetic - Croce.
2) A Study in Epic Development - I. T. Myers.
3) Elements of Poetry - James R. Kreuzer
4) Epic - A bercromble.
5) History of Literary Critism - George Saintsbury.
6) Illusion and Reality - Caudwel Cristopher.
7) Modern Poetry - Louis Macneice.
8) Oxford Lectures on Poetry - Dr. A. C. Bradly.
9) Theory of Literature - Wellek and Warren.
10) What is Art and Other Essays - Tolstoy.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ – 341 306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्नातकोत्तर (एम.ए.) पूर्वार्द्ध

विषय – हिन्दी

तृतीय पत्र
काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन

विशेषज्ञ समिति

1. **प्रो. नन्दलाल कल्ला**
   पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

2. **प्रो. वेदप्रकाश शर्मा**
   पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग
   महाराजा गंगासिंह विश्वविद्यालय, बीकानेर (राज)

3. **प्रो. जगमालसिंह**
   पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग
   मेघालय विश्वविद्यालय, मेघालय (आसाम)

4. **डॉ. ममता खाण्डल**
   सहायक आचार्या, हिन्दी विभाग
   राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय, किशनगढ़ (राज.)

5. **प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी**
   निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
   जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.)

6. **प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा**
   आचार्या, जैन विश्वभारती संस्थान,
   लाडनूँ (राज.)

लेखक

डॉ. निरंजन सहाय

संपादक

प्रो. नवल किशोर

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 700

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं–341 306 (राज.)

Printed at

M/s Nalanda Offset,
G1/232, RIICO Industrial Area, Heerawala Ext., Konota, Jaipur (Raj.)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

काव्य शास्त्र एवं साहित्यालोचन

प्राक्कथन

काव्यशास्त्र और साहित्यालोचन की भारतीय, पाश्चात्य एवं हिन्दी परम्परा को समझे बिना साहित्यिक विवेक का निर्माण संभव नहीं। इस कृति में इन तीनों संदर्भों को परखने का प्रयास किया गया है। प्रायः इन विषयों पर लिखते समय दुरूहता और जटिलता का समावेश हो जाता है, उसका कारण एक हद तक संदर्भों और परिवेश की अपनी विशेषताएँ हैं। लेकिन इसका भरपूर प्रयास किया गया है कि 'काव्यशास्त्र' जैसे विषय को सहज एवं स्वाभाविक रूप से विश्लेषित करने का प्रयास किया जाय। जिन अधि ाकारी विद्वानों और उनकी कृतियों का सहारा लिया गया है, उन्हें हार्दिक कृतज्ञता।

निरंजन सहाय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विषयानुक्रमणिका

विषय–सूची **पृष्ठ संख्या**

(क) संस्कृत काव्यशास्त्र :

अध्याय 1– काव्य लक्षण, काव्य–हेतु, काव्य–प्रयोजन, काव्य के प्रकार 1–13

अध्याय 2– रस सिद्धान्त : रस का स्वरूप, रस निष्पत्ति, रस के अंग, साधारणीकरण, सहृदय की अवधारणा 14–33

अध्याय 3– अलंकार सिद्धान्त : मूल स्थापनाएँ, अलंकारों का वर्गीकरण 34–44

अध्याय 4– रीति सिद्धान्त : रीति की अवधारणा, काव्य–गुण, रीति एवं शैली, रीति सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ 45–55

अध्याय 5– वक्रोक्ति सिद्धान्त : वक्रोक्ति की अवधारणा, वक्रोक्ति के भेद, वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद 56–61

अध्याय 6– ध्वनि सिद्धान्त : ध्वनि का स्वरूप, ध्वनि–सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ, ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद, गुणीभूत–व्यंग्य, चित्र–काव्य 62–67

अध्याय 7– औचित्य सिद्धान्त : प्रमुख स्थापनाएँ, औचित्य के भेद 68–72

(ख) पाश्चात्य काव्यशास्त्र :

अध्याय 8– प्लेटो : काव्य सिद्धान्त 73–76

अध्याय 9– अरस्तू : अनुकरण–सिद्धान्त, त्रासदी विवेचन 77–82

अध्याय 10– लोंजाइनस : उदात्त की अवधारणा 83–86

अध्याय 11– मैथ्यू आर्नल्ड : आलोचना का स्वरूप और प्रकार 87–89

अध्याय 12– टी. एस. इलियट : परम्परा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा, निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त 90–93

अध्याय 13– आई. ए. रिचर्ड्स : व्यावहारिक आलोचना 94–97

अध्याय 14– सिद्धान्त और वाद : स्वच्छंदतावाद, अभिव्यंजनावाद, मनोविश्लेषण तथा अस्तित्ववाद 98–107

अध्याय 15– आधुनिक समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ : विखंडनवाद, उत्तर–आधुनिकतावाद 108–114

(ग) हिन्दी कवि–आचार्यों का काव्यशास्त्रीय चिन्तन :

अध्याय 16– लक्षण–काव्य–परम्परा एवं कवि–शिक्षा– केशव, चिंतामणि, भिखारीदास 115–119

(घ) हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियाँ :

अध्याय 17– शास्त्रीय, तुलनात्मक, प्रभाववादी, सौंदर्यशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय 120–124

(ङ) व्यावहारिक समीक्षा :

अध्याय 18– प्रश्नपत्र में पूछे गए किसी काव्यांश की स्वविवेक के अनुसार समीक्षा 125–131

सहायक ग्रन्थ सूची 132

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun